बोधिवृक्ष

—जगदीश गुप्त

वाणी प्रकाशन

4697/5,21ए दरियागंज,

नयी दिल्ली-110002

संस्करण : 1988

स्वत्व : डॉ. जगदीश गुप्त

आवरण : गोविंद प्रसाद

मूल्य : 30/-

❖

अनुक्रम

1- भूमिस्पर्श —7
2- नमन—13
3- हंस-प्रसंग—21
4- कृशा—25
5- भूमिपात—35
6- सुजाता—37
7- मार-विजय—45
8- बिम्बसार का कथन—56
9- तृष्णा और कृष्णा—60
10- नापित-प्रसंग—63
11- गृद्धकूट—67
12- अंगुलिमाल—69
13- अवसान—73
14- निर्वाण-दृश्य—75
15- अंत—77
16- त्रिरत्न—79
17- बुद्ध-स्तवन —82

❖

बुद्ध के जीवन को काव्य का विषय बनाने के पीछे मेरे मन में अनेक प्रकार के प्रेरणा-सूत्र सक्रिय रहे । 'युग्म' में समाहित वृत्ति की विरागात्मक परिणति, 'शम्बूक' के जाति-वर्ण विरोधी उदार वैचारिक आधार को और अधिक समृद्ध एवं प्रशस्त करने की भावना, अर्थ-केन्द्रित भौतिकवादी जीवन-दर्शन की अपर्याप्तता और संकीर्णता का बोध, वैज्ञानिक युग में भी आध्यात्मिक आयाम की अपेक्षा, भोगवाद की बढ़ती प्रवृत्ति के बीच त्याग की गरिमा का पुनरवलोकन, मानवीय करुणा और उसकी विश्वव्यापी प्रतीति की सार्थकता तथा कला के क्षेत्र में अजस्त्र सौन्दर्यात्मक प्रतिमूर्तन की मूल-प्रेरणा का आनयन और अन्त में मनुष्यता को बुद्धत्व के चरम उत्कर्ष तक पहुँचाने वाले कर्मनिष्ठ तेजस्वी चिन्तक के प्रति एक भारतीय के नाते प्रणाम-निवेदन इस रचना को सम्भव बनाने में इन सभी का योग लक्षित किया जा सकता है । फिर इधर मृत्यु के निकट तक पहुँचा देने वाली बीमारी का अस्पताली अनुभव और पुनर्जीवन देने वाले स्नेह-सद्भाव की गरिमामयी चेतना भी विस्मरणीय नहीं । मुझे लगा, कहीं मुझमें भी किसी बोधिसत्व की छाया सन्निहित है, और वही बुद्ध-चरित को आत्मसात् एवं अभिव्यक्त करने के लिए मेरे अन्तःकरण को प्रेरित कर रही है । बिना किसी नये-पुराने काव्य-रूप का आग्रह किए ऐसी सात्विक प्रेरणा को प्रस्फुटित होने देना मैंने अपना कवि-धर्म माना और सारा कवि-कर्म उसके प्रति समर्पित कर दिया । काव्यगत धर्म और कर्म की यह युति जन-मानस को तनिक भी मर्म-स्पर्शी लगे तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा । विशेषज्ञों को, हो सकता है, मेरा पूरा प्रयत्न ही अन्यथा प्रतीत हो ।

गौतम बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन-दर्शन बिना अर्थ को केन्द्र में रखे विकसित किया और उसका प्रभाव विश्वव्यापी हुआ । आज भी वह पंचशील की भावना को जगाकर तथा उपेक्षाग्रस्त अन्त्यजों को अपनाकर देश-विदेश की अनेक जीवन्त समस्याओं के समाधान में सहायक हो रहा है । जबकि अर्थकेन्द्रित राजस जीवन दृष्टि की संकीर्णता, धन को साधन की जगह साध्य बनाकर प्रायः सारे नैतिक मानव-मूल्यों को अपदस्थ करती हुई, राजनैतिक आक्रामकता को बल दे रही है । उस आध्यात्मिकता से उसका वैर प्रतीत होता है जिसके सहारे भारतवर्ष ने समस्त जीवन-मूल्यों का अन्वेषण एवं विकास किया । उस त्यागमय

जीवन से उसे चिढ़ है जिसकी महिमा भारत में अनादिकाल से प्रतिष्ठित रही । अहिंसा को अपर्याप्त मानकर वह हिंसा का आक्रामक मार्ग अपनाने की प्रेरणा देती है, व्यक्ति और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात को ही अपराध मानती है । अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों में मानवता के उद्धार के नाम पर स्वार्थ-साधन और दूसरों की स्वतन्त्रता का राजनैतिक तर्कों से अपहरण करते हुए अपनी प्रभुता का प्रसार ही जिसकी प्रवृत्ति हो गई हो ऐसी तथाकथित जनवादी सत्ता संसार में सत्तावादी जन ही उत्पन्न कर सकती है ।

पूँजीवादी तो बुरा है ही क्योंकि वह व्यक्ति और समाज दोनों में अहंकार की वृद्धि के साथ-साथ हर प्रकार के शोषण को बढ़ावा देता है पर खेद है कि आपसी फूट के कारण पूँजीवाद से साँठ-गाँठ कर यह जनवाद भी संसार को युद्ध के कगार पर लाने में सहायक होता जा रहा है । 'युद्ध और बुद्ध' नामक 'शब्ददंश' की एक कविता में ही मैंने पहले यह प्रश्न सांकेतिक रूप से उठाया है।

यथा —

चाहते नहीं हो यदि संस्कृति का सर्वनाश
युद्ध को तिलांजलि दो, श्रद्धांजली—

बुद्ध को ।
धर्म-चक्र के आगे नमन करो
हिंसा को त्याग दो, अहिंसा का वरण करो ।

और यहाँ मुझे अपने 'शम्बूक' की दो पंक्तियाँ भी याद आ रही है—

मारते हो और कहते हो इसे उद्धार ।
चलेगा कब तक तुम्हारा यह घृणित व्यापार ।।

बुद्ध की विचारधारा उसकी तुलना में कहीं अधिक गम्भीर, उदार, करुणामय और मानवता से युक्त रही है, भले ही आज वह प्रधान युग-धर्म के रूप में ग्राह्य न हो । भारतवर्ष से बुद्ध-धर्म स्थूल रूप से चाहे कभी निष्कासित कर दिया गया हो पर आज भी 'संकल्प' में 'बौद्धावतारे' की ध्वनि गूँजती रहती है जो कदाचित 'गीत-गोविन्द' की दशावतार-स्तुति, 'केशव धृत बुद्ध शरीर' से अनुप्रेरित है । मेरा आशय बौद्ध-धर्म की महत्ता के प्रचार-प्रसार से न होकर बुद्ध की मूलभूत जीवन-दृष्टि की गहराई एवं व्यापकता को उजागर करना मात्र है और वह भी मानव के प्रति संतुलित दृष्टिकोण अपनाने के विचार से प्रेरित है ।

नयी कविता ने जिस नये मनुष्य की अवधारणा को अपनी प्रखर शक्ति से मूर्त करने का संकल्प किया वह उग्रपंथी राजनैतिक मतवादों तथा उनके व्यापक अनैतिक आचरणों की चपेट में आकर कुछ धूमिल होता जा रहा है । उसमें वैचारिक स्वातन्त्र्य की जो आधारभूत कल्पना सन्निहित रही है उसे उत्तरोत्तर निरर्थक और वायवी सिद्ध करने की चेष्टा की जा रही है । उसके स्थान पर

दलीयता, प्रचारात्मकता तथा अवसरवादी समीकरण पनप रहे हैं जिनसे मनुष्य का सत्व झूठा पड़ता जा रहा है । पाशविक शक्तियाँ आकर्षक तर्कों से मानवता को अपदस्थ करती जा रही है । भय और आतंक के वातावरण में प्रतिवाद को अपराध समझा जा रहा है । सांस्कृतिक चेतना को जिस रूप में विकसित किया है उसमें वैचारिक स्वातन्त्र्य और आत्मोन्नतिकारक सदाचार को जन्म-सिद्ध अधिकार समझा गया है । धर्म को सम्प्रदाय से कहीं अधिक ऊँचे स्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए उसे मनुष्यता का सर्वप्रेरक स्रोत माना गया है । बुद्ध ने आत्मा और ईश्वर की सत्ता न मानते हुए भी 'धर्म' को त्रिरत्नों में स्थान दिया उसका कारण यही दृष्टिकोण था । आज जिस धर्म-निरपेक्षता का राजकीय स्तर पर प्रचार-प्रसार किया जा रहा है वह इतनी सतही और दिखावटी है कि देश में मानव-मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है । तथाकथित धर्म-निरपेक्षता अधर्म का कवच बन रही है । ऐसे में यदि मानव-धर्म के वास्तविक स्वरूप की पहचान कराने के लिए बुद्ध जैसे किसी लोक-वन्दित चरित का स्मरण किया जाय और साम्प्रदायिक आग्रह के बिना उसकी गरिमा का प्रतिमूर्तन सम्भव हो तो वह अनुपादेय नहीं होगा । इसी विश्वास पर मैंने यह रचना की है । किसी पुरावृत्त को सर्वथा नयी काव्य-शैली में प्रस्तुत करना मेरे लिए सम्भव नहीं हुआ । मैं इस सन्दर्भ में निस्संकोच अपनी असमर्थता स्वीकार करता हूँ परन्तु इसकी चेतना रखते हुए भी जिस कारण मैं रचना से विरत नहीं हुआ वह मेरे लिए शैली-शिल्प और काव्य-भाषा की भंगिमा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है । सब कुछ कहने के बाद भी कुछ अनकहा छूट ही जाता है, फिर मैं और मेरी रचना दोनों इसका अपवाद क्यों बने ।

अतिवादों के बीच मध्यममार्ग का अनुसरण, प्रत्येक प्राणी के भीतर सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति की आकांक्षा का अन्वेषण, व्यक्तिगत स्तर पर त्यागमय मर्यादित आचरण, गणतन्त्रात्मक पद्धति के साथ संघ-सम्पत्ति की कल्पना तथा महाकरुणा से मानव मात्र के सन्त्रास का निवारण यह कुछ बातें ऐसी है जिन्होंने मुझे बुद्ध के जीवन को आज के युग में भी शब्दायित करने के लिए विवश किया । निजी सन्दर्भ की इतर बातें पहले ही कह चुका हूँ । यों, नारी के विषय में बुद्ध की दृष्टि मुझे संकीर्ण लगी या यों कहा जाय कि विगत युग की सीमा से ग्रस्त दिखायी दी जिसमें पुरुष की प्रधानता बलपूर्वक रेखांकित की गयी है । उनके द्वारा भिक्षुणियों के लिए जो कठोर नियम बनाए गये वे इसके प्रमाण हैं । थेरी गाथाओं में उनके प्रतिवाद का स्वर कहीं उभरा हो तो मुझे ज्ञात नहीं । सभी थेरियाँ बुद्ध-शरण पाकर कृतार्थता का अनुभव करती हुई दिखायी देती हैं जिससे सिद्ध होता है कि या तो उन नियमों में कठोरता करुणाभाव की कोमलता से वेष्ठित होने के कारण चुभती नहीं थी या उस युग में नारी-जीवन का सन्त्रास

इतना विषम था कि बुद्ध का समभाव उस कठोरता के बाद भी उन्हें प्रिय लगता रहा । अश्वघोष से लेकर आज तक अनेक भाषाओं के बहुसंख्यक कवियों कथाकारों एवं नाटककारों तथा चरित-लेखकों ने बुद्ध के जीवन-चरित एवं व्यक्तित्व को रूपायित किया है। 19वीं शती में अब तक हुए प्राचीन इतिहास एवं पुरातात्विक क्षेत्र के अन्वेषणों तथा कला-वस्तुओं की असाधारण उपलब्धि से प्रेरित होकर रचनाकारों ने नयी-नयी कल्पनाओं एवं उद्भावनाओं से बुद्ध-युग के पूरे परिवेश को पुनरुज्जीवित करने का उपक्रम किया है । जितना कुछ मुझे सुलभ हो सका, जो कुछ मैं देख-सुन सका उसके आधार पर मैंने अपने ढंग से बुद्ध के जीवन के प्रमुख प्रसंगों को कहीं बहु-छन्दात्मक और कहीं मुक्त छन्दात्मक रूप में प्रस्तुत किया है । मैं उन सब कृतिकारों का ऋणी हूँ जिनकी कृतियों से मैने प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण किया है । कोई भी प्रबन्ध शून्य में घटित नहीं होता ।

थेरी गाथाओं को पढ़ने पर बुद्ध-युग में प्रवाहित कारुण्य-धारा का वास्तविक सामाजिक रूप समस्त मानवीय-अमानवीय सन्दर्भों के साथ प्रत्यक्ष हो उठता है । मानवता का कितना विशाल समुद्र उस काल में भारत के पूर्वांचल से उमड़कर देश-देशान्तर तक लहराया था इसका आभास मात्र किसी को चकित और चमत्कृत करने के लिए पर्याप्त है । गणतन्त्रीय पद्धति का क्षुद्र जातीय संघर्षों में टूट-टूटकर बिखरना आज के भारत की स्मृति जगाता है किन्तु साथ ही तथागत के रूप में आत्मिक उन्नयन के आलोक-पुरुष 'अत्तदीप' के समुदाय से मानवता की विजय के प्रति आश्वस्त करता है । निरन्तर चिन्तन मनन से मानव की जो पहचान भारत ने अर्जित की है वह साधार है और नये मनुष्य की अवतरण-प्रक्रिया में उसका सुनिश्चित योगदान होगा इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है । विकासवाद के पशुधर्मी नर-वानर, मनोविज्ञान के काम-कुंठित जीव, साम्यवाद के अर्थानुशासित वर्ग-संघर्षी मनुष्य तथा विज्ञान के यन्त्र-चलित एवं यन्त्रारूढ़ व्यक्ति से अलग उदार करुण-भाव से लोक-कल्याण के प्रति समर्पित जिस आचारवान् तत्वदर्शी पुरुष की अवतरणा भारतीय मनीषा ने की है उसका महत्व आगामी शताब्दियों में कम नहीं होगा, ऐसा मेरा विश्वास है ! मेरे द्वारा बुद्ध चरित का काव्यानुलेखन इसी विश्वास का प्रतीक है । बुद्ध के प्रभाव से यज्ञ-पशु पिष्ट-पशु बन गए । रक्तमय बलि-प्रथा वैष्णव प्रभाव ग्रहण करती हुई भक्ति और अनुरक्ति में परिणत हो गयी करुणा से युक्त मानवता और समता को सर्वोपरि स्थान मिला । जन्म से जाति-वर्ण की मान्यता खंडित हो गयी । बौद्ध मत ने भारतीय संस्कृति के विकास में आत्मा और ईश्वर का प्रतिवाद करके तथा विज्ञानवाद और प्रज्ञावाद का प्रसार करके अभूतपूर्व योग दिया जो आज भी महत्व रखता है । श्रीलंका, ब्रह्मदेश और थाईलैंड में बुद्ध का ध्यानी-योगी रूप मान्य हुआ तथा नेपाल, कोरिया, चीन और जापान में उनके बहुजन

हितकारी करुणामय स्वरूप की अर्चना की गई । जो आज भी सजीव है, भले ही उसमें अनेक प्रकार की विसंगतियाँ और विकृतियाँ उत्पन्न हो गयी हों । मानव स्वाभाव को बुद्ध ने आमूल परिर्वतनशील माना । उनका निवारण तत्वतः जीवन के निःशेष होने का बोधक नहीं है । वह केवल वासना-क्षय का द्योतक है । और आगे चलकर जन्मान्तरवाद में वासना के परिष्करण का पर्याय बन गया । मन्त्र यान तन्त्रयान की गुह्य साधनाओं ने उसे विपथ भी किया पर निम्न वर्ग का उत्थान तो भी उसके माध्यम से होता रहा।

अद्वैतवादी चिन्तन पर बुद्ध की मान्यताओं की छाप अनेक रूपों में परिलक्षित की गयी है । गौडपाद से होता हुआ यह प्रभाव शंकराचार्य के मायावाद तक पहुँचा और उन्हें समादर के साथ अनादरपरक प्रच्छन्न बौद्ध की उपाधि भी दिला गया । पद्म्पुराणकार ने इसी मायावाद की निन्दा की है कि वह बौद्ध मत से प्रभावित हुआ '**मायावादमसच्छास्त्रं' प्रच्छन्नं बौद्धमेव च |'** कुछ दार्शनिकों ने इस बात का प्रतिवाद भी किया है। अद्वैतमत पर वे बौद्धमत का कोई प्रभाव स्वीकार नहीं करते पर मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता । बुद्ध के प्रभाव को सर्वथा नकाराना सम्भव नहीं है क्योंकि वह एक शक्ति के रूप में सामने आया था । ब्राह्मणवाद के यज्ञ-अश्व की वल्गा उसने लव-कुश की तरह थाम ली और अन्ततः एक सीमा तक विजयी भी हुआ । बुद्ध-वचन किसी को जन्म से ब्राह्मण मानने का उत्कट विरोध करते हैं । उनके अनुसार अपरिग्रही, त्यागी, निरासक्त, विरक्त, निरहंकारी, बहुश्रुत, शीलवान, अपीडक, दयावान, प्रज्ञावान, असंग्रही अयाचक आदि विशेषज्ञों से विभूषित किया जाने वाला गुण-कर्म-स्वाभाव से श्रेष्ठ व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है, धन संग्रही लोभी, याचक और पुरोहिती करने वाला ब्राह्मण-घर में जन्म लेने वाला व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है । यह तेजस्वी धारणाएँ कबीर आदि सन्तों की वाणी में उसी तेवर के साथ प्रस्फुटित और भारतीय समाज पर उनका गहरा प्रभाव भी पड़ा।

बुद्ध ने नापित उपालि को इतना गौरव दिया कि वह 'विनयपिटक' का आचार्य बन गया । गणिका आम्रपाली का आतिथ्य स्वीकार कर उसे प्रव्रज्या भी प्रदान की । शूद्र वर्ग और नारी वर्ग को धर्म में प्रवेश देकर आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्होंने इस प्रकार जो क्रन्तिकारी परिवर्तन किया उसकी चेतना शैव और वैष्णव मत के विविध रूपों 'लिंगायतो' महानुभावों तथा रामानंदियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है । संस्कृत के विरुद्ध लोक भाषा (सकाय निरुत्तिया) को भी जैसा प्रश्रय उन्होंने दिया वैसा किसी अन्य के द्वारा आज तक सम्भव नहीं हुआ । बाद में बौद्धधर्म में संस्कृत को भी मान्यता प्राप्त हुई और शास्त्र तथा काव्य दोनों का सृजन हुआ पर झुकाव जनभाषा की ओर ही बना रहा । "**मा एकेन**

द्वे आनमित्थ" अर्थात कोई दो भिक्खु एक ही दिशा में न जाएँ जैसी मान्यता का ही यह परिणाम हुआ कि देश-देशान्तर में बुद्ध का सन्देश परिव्याप्त हो गया और आज भी उसकी विश्वव्यापी अनुगूँज सुनायी देती है ।

मनुष्य की सुप्त अन्तश्चेतना को जगाकर उसके विकास की समस्त सम्भावनाओं को उद्घटित करने का जो संकल्प बुद्ध ने किया था वह अभी तक पूरा नहीं हुआ है । विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र उसे अपने-अपने ढंग से पूरा करने की चेष्टा कर रहे हैं जिनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता किन्तु मनुष्य के विषय में जो धारणा आज योरोपीय देशों में बहुप्रचलित है वह अन्तर्ज्ञान पर उतना बल नहीं देती जितना बुद्ध तथा उनके अनुवर्तियों ने दिया । सरहपा का यह कथन कई दृष्टियों ध्यातव्य है —

पण्डित सअल सत्थ वक्खाणहिं ।

कायहि बुद्ध बसंत न जाणहिं।।

समस्त पंडित सत्य का बखान तो करते हैं पर इतना भी नहीं जानते कि काया में ही बुद्ध का वास है । जैसे 'बुद्ध' से 'बुत' शब्द विकसित हुआ, क्या आश्चर्य है, वैसे ही 'बुद्ध बसंत' की परिणति 'बुद्धू बसंत' में हुई हो । मूर्ति के पर्याय होकर भी इस विडम्बना से कदाचित बुद्ध भी मुक्त नहीं हो सके | यह एतिहासिक सत्य है कि हीनयान में बुद्ध की मूर्ति-पूजा प्रचलित नहीं थी महायान के आने के बाद बौद्ध-धर्म मूर्तिपूजक हो गया और अब तक वही परम्परा सजीव है । कलाकार के रूप में मैं बुद्ध-मूर्ति को संसार की श्रेष्ठतम मौलिक शिल्प-कृतियों में मानता हूँ जिसकी उद्भावना का श्रेय भारतवर्ष को है ।

पृष्ठ संख्या : 12

—जगदीश गुप्त

•

नमन

उस मनुष्य को नमन
कि जिसमें
महाबुद्ध बन
विश्ववन्द्य प्रभु,
हो जाने की भी क्षमता है ।

उस करुणा को नमन
कि जिसमें
युगों-युगों से
दुखी मनुज की
दुर्बलताओं के प्रति भी अगाध ममता है ।

वर्षा का जल
यों तो सभी जगह गिरता है,
किन्तु जहाँ गहरायी होती—
उसी जगह जाकर थमता है ।

गौतम का जीवन भी तो
गतिमय निर्झर था,
कितना ऊँचा-नीचा पथ
नापा था उसने;
इसीलिए तो
जन-मन में यह बात बस गयी,
बहता पानी ही जैसे जोगी रमता है ।

पृष्ठ संख्या : 13

•

लुम्बिनी-वन के गहन विस्तार में
श्वेत गज अवतरित हो
आलोक भरता अन्तरिम ।
देह के शत-सूर्य-दीपित
कान्तिवाही रूप में—
हो रहीं ज्यों सतत प्रतिबिम्बित दिशाएँ
मानवी काया बनी सौन्दर्य-प्रतिमा अप्रतिम !
महामाया के प्रभामय अंक में,
भूमि पर आकाश से आकर—
स्वयं शशि ही शिशु बना नवनीत-हिम ।

लिये सहारा वृक्ष-वृन्त का निज हाथों से,
खड़े-खड़े ही मायादेवी बनी प्रसविनी;
जैसे कोई शालभंजिका नंदनवन में,
सौरभ-पूरित पारिजात को जन्म दे रही ।

सद्य जन्मते बाल-कंठ से यह स्वर फूटा—
'अग्गो हस्मि लोकस्स', एक विस्मय-शर छूटा ।
सभी चकित थे, कौन स्वयं को,
लोक-शिरोमणि मान रहा यों !
अपनी ही भविष्य-गति कैसे
यह अबोध शिशु जान रहा यों !
क्या यह कोई यक्ष-देव, या शिव प्रलयंकर !
महानाशमय अथवा प्रेत-प्रकोप भयंकर ?
बोल उठे नव जात, असंभव !
उसे भविष्यत ज्ञात, असंभव !

•

रुग्ण होकर एक ही सप्ताह में—
चल बसी माता ।
क्या कहे कोई किसी से,
क्रूर है कितना विधाता ।

और मानव भी सदय ही नहीं होता सदा ।
भले घटता हो वही, जो भाग्य में हो बदा ।
एक कोलाहल हुआ—
इस छोर से उस छोर तक परिव्याप्त;
राजधानी हुई कंपित,

हुई शंकित, हुई कुण्ठित,
कपिलवस्तु, नितान्त क्लान्त, अशान्त !
गत हुई माता अचानक प्रसव-रोगी,
बच गया शिशु ही अभागा !
रोग-दर्शन से उसे पीड़ा न होगी,
राजसी मन में यही परितोष जागा !
एक कुटिल विडम्बना के रूप में
सोचते नृप— 'है सगी मातृश्वसा जो—
पल लेगी उसे मेरी दूसरी भार्या।'
पर नहीं ऐसा; यही लगता—
महामाया स्वयं ही तो सौंपती हैं
गौतमी के हाथ में नवजात शिशु !
वह स्वयं ही कह रही हैं—
'लो, सम्हालो इसे अपना ही समझकर
देखती हूँ अन्त मेरा सन्निकट है।'

गौतमी के हाथ आगे बढ़े
नारी हृदय में वात्सल्य जागा
महामाया का महत्तर तेज
महासती प्रजावती ने—
लिया सहज सहेज ।
चेतना को दिव्यता से पूरकर
मातृ-शक्ति हुई तिरोहित
शाक्य शासक के विकम्पित,
नमित, चिन्तित भाल की,

मिटीं रेखाएँ, अवांछित उठी थीं जो
शान्त जल-तल पर लहर-सी
भारमुक्त हुए बहुत-कुछ
नृपति शुद्धोदन ।

सात-सात प्राचीरों वेष्ठित ।
द्वार प्रहरियों से संरक्षित ।।
मानो मूर्तिमती-सी होकर ।
धरा धरे उष्णीश शीश पर ।।

पुरजन, परिजन, सैन्य दण्डधर ।

बसे विविध वृत्तों में आकर ।।
प्रथम वृत्त में बसा राजकुल ।
फिर द्वितीय, सम्बन्धी संकुल ।।
शाक्यों के जो अन्य वंश-धर ।
सब तृतीय में रहे सभा कर ।।
राज्य प्रबंध, कोष, न्यायालय ।
संथागार-सभा, जन-संचय ।।
शस्त्र-शास्त्र-शिक्षक, सेनापति ।
सब चतुर्थ वृत्तीय वास, गति ।।
फिर पंचम प्राचीर, महाजन ।
धन के लिए उचित सब साधन ।।
श्रमजीवी शिल्पी, व्यवसायी ।
वणिक पण्य-कर्मी, कर दायी।।
मणि-रत्नों की जगर-मगर का ।
मुख्य केन्द्र था, महानगर का ।।
सबसे विस्तृत, सबसे सुन्दर ।
कमलालया इन्दिरा-मन्दिर ।।
दोहरी प्राचीरों के भीतर ।
सुदृढ़, व्यवस्थित, सैन्य-शिविर वर ।।
कारागार, शस्त्र-संचय-स्थल ।
विशद अश्व-गज शालाएँ, बल।।

सब प्राचीरों का परिभेदक ।
राजमार्ग था एक, अन्त तक ।।
ले जाता जो नगर पार कर ।
शेष मार्ग उसके ही अनुचर ।।
सिंह-द्वार पर महा दण्डधर ।
नग्न खड्ग ताने फिरते कर ।।
कपिलवस्तु की शोभा अद्भुत ।
अमरावती सदृश छवि-संयुत ।।
कलश, पताकाएँ, ध्वज, तोरण ।
दिपते, कान्ति लहरती प्रतिक्षण ।।
छूते जलद, पवन आन्दोलित ।
गर्वोन्नत प्रासाद ध्वनित नित ।।
पथ-प्रशस्त, अहरह जन - संकुल ।
तल तक पहुँच न पाते तन्दुल।।

निशा अप्सरा तुल्य उतरती ।

ओस-बिन्दुओं पर पग धरती ।।
शुद्धोदन-गौतमी प्रफुल्लित ।
देख-देख सिद्धार्थ विर्विधत ।।

किन्तु-चिन्ता मुक्त मन उनका नहीं;
यह कुमार न बुद्ध बन जाये कहीं ?
असित-वचनों से त्रसित, भयभीत-मुख,
वेधता उर को सतत, भवितव्य दुख।।

मन्त्रणा करके महा-आमात्य से
दे रहे आदेश शुद्धोदन—
सुनो विजयादित्य !
मैं नहीं चाहता कभी विराग हो इसको,
इसे ऐसी तरह, ऐसी जगह रक्खो
जहाँ इसका मन, विमन होने न पाये।
दृष्टि में कुछ भी अवांछित नहीं आये।

राजसी वातावरण
लगने लगे रमणीक इतना—
बुद्धि इसकी
कभी त्याग-विराग के पथ पर न जाये।
मृदु सुकोमल हृदय पर इसके
दुःख की दुर्वह, गहन छाया न छाये।
और यदि मेरा अडिग आदेश
तुम नहीं कर सके पालन
तो समझ लो आयु अपनी शेष।

अंक में सिद्धार्थ को भर
हुए शुद्धोदन विकम्पित
स्नेह-विह्वल
वत्स ! तुमको क्या हुआ ?
क्यों क्रीडनों में हो नहीं पाती
तुम्हारी तनिक भी अनुरक्ति ?
सांध्य-छाया सी,
बाल-मन में क्यों भरी रहती
सदैव विरक्ति !

शान्त, निर्जन, प्रान्त जैसा स्तब्ध,

कुछ क्षण रहा बालक मौन।
पितृ चिन्ता का गहनतम अर्थ
समझे कौन !
महामात्य !
अरे कहाँ तुम
यह तुम्हारी क्या दशा
कैसी व्यवस्था ?
क्या अपेक्षित थी यही
सिद्धार्थ के मन की अवस्था ?

उस हिमानी मौन की जड़ता
पिघलकर बह गयी,
अन्त में सिद्धार्थ ही
गम्भीर स्वर में लगे कहने—
मैं नहीं चिन्तित
भला तब आप क्यों चिन्तित ?
आप तो मेरे पिता हैं
और शासक भी।
मुझे दुख है
आप मेरे लिए इतना व्यग्र रहते है;
करें आज्ञा
जो कहेंगे आप
मैं वह सब करूँगा ।

चकित शुद्धोदन हुए
प्रति-शब्द सुनकर
स्निग्ध नन्हें होठ
कितनी दीप्त वाणी बोलते थे !
कहाँ मृदुल किशोर काया,
कहाँ ऐसा ज्ञान, यह गम्भीरता !

मुक्त कलरव गुंजरित आकाश
पाँखियों का दल विपुल आकुल बनाकर
क्रूर शंका-श्येन जैसे चीरता।

पार्श्व-पथ से
दौड़ती आयी कृशा
सिद्धार्थ ! ओ सिद्धार्थ !!

बोलो तुम कहाँ हो ?

अरी पगली
देख आकर, मैं यहाँ हूँ,
बोल फिर से तू जहाँ हो।

पृष्ठ संख्या : 19

आ गये थे वहीं विजयादित्य
बालक की प्रगति का स्वयं लेने के लिए लेखा।
अजब आशा-भरी आँखों से, पुलककर
नृपति ने अपने महा-आमात्य को देखा
खिंची उनकी दृष्टि में भी
बाल मन के राग की, अनुराग की,
विश्वास की रेखा।

पृष्ठ संख्या : 20

•

हंस-प्रसंग

देख रहे थे ध्यान लगा
सिद्धार्थ, नन्द दोनों
पिपीलिका-पंक्ति
नये पुष्पित उपवन में।
इतने लघु जीवों में कितनी त्वरा, कुशलता !
कितना साहस, भार-वहन की कितनी क्षमता !
ऊपर-नीचे कहीं विषम-सम
अविरत गति इनकी, जैसे भी हो धरती,
करती रहतीं श्रम।
अपने से दस गुना बोझ ढोने का कौशल !
बिखर-बिखर कर पुनः एक होने का कौशल !
जहाँ शर्करा-कण हो चींटी वहीं पहुँचती।
कौन जगह है ऐसी जिस तक नहीं पहुँचती।
कोई रख दे पाँव, वहीं इनकी शव-यात्रा
किन्तु नहीं कम होती फिर भी
इनकी संख्या, इनकी मात्रा

तभी अचानक गिरा भूमि पर
वाण-विद्ध कलहंस रक्त से लथ-पथ।

ग्रीवा मुरझाई मृणाल-सी,
पंख छिन्न, अधरखुली चंचु, पलकें श्लथ।
दौड़ पड़े सिद्धार्थ त्वरित हो विकल अश्रुमुख
क्षण भर में ही व्याप गया उनके मन में
उस पक्षी का ही नहीं
विश्व भर का, सारा दुख
ऐसी करुणा बही हृदय से, सदय बनाती जनमन पावन

उत्तरीय की सिक्त कोर से रक्त पोंछकर,
एक हाथ से धीरे-धीरे खींच लिया शर।
नन्द जलाशय से जल लाया,
वह अचेत हो गया व्याथा से, रहे फड़फड़ाते दोनों पर।
जल के छींटे दिए नन्द ने लौट चेतना आयी सत्वर ||
अपनी बाँहों में उसको भर ज्यों ही लगे कुमार उठाने।
देवदत्त आ गया हाँफता, किन्तु क्रोध से भौंहें ताने ।।
कहा रुको सिद्धार्थ कहाँ ले चले उधर, आखेट हमारा ।।
मेरा है यह वाण, इसे उड़ते नभ-पथ में मैंने मारा ।।
मैंने इसके प्राण बचाये, देख रहा यह एकटक मुझको।
यह मेरा रक्षित पक्षी है, तू हत्यारा, क्यों दूँ तुझको ।।

वाद बढ़ता ही गया
क्षत हंस देने हेतु तत्पर थे नहीं सिद्धार्थ।
देवदत्त सगर्व करुणाहीन
केवल देखता था स्वार्थ ।

बाँह गहकर कहा उसने चलो संथागार
मुझे वर्जित है गमन प्राचीर के उस पार,
सौम्य शब्दों में किया सिद्धार्थ ने प्रतिवाद
नहीं माना देवदत्त विरोध, प्रहरी रोध
अग्नि से भी प्रखर मन में प्रज्ज्वलित था क्रोध
देख शुद्धोदन चकित थे सभा मध्य कुमार
देवदत्त समेत आये, स्वयं संथागार
बृद्धजन संकेत पाकर लगे जाने दूर
छिप गये कुछ द्वार के पीछे भय भर-पूर
बिना आज्ञा आ गये क्यों इस जगह तुम लोग?
कौन-सा संकट तुम्हें है, कौन-सा संयोग?
और क्यों सिद्धार्थ बाँहों में लिये क्षतहंस?
रक्तरंजित हो रहा क्यों शाक्य कुल अवतंस?

हंस मेरे वाण से ही गिरा होकर बिद्ध।
कर रहे अधिकार क्यों सिद्धार्थ उस पर सिद्ध।।
पृष्ठ संख्या : 22
हों भले युवराज, पर अन्याय तो अन्याय,
मैं सहूँगा नहीं, संथागार करे उपाय।
मुझे वापस मिले मेरा शर-बिंधा आखेट !
अनधिकारी बाहुओं ने लिया जिसे समेट ।।
सभा प्रभावित हुई, निवेदन देवदत्त का सुनकर।
शुद्धोदन ने किया समर्थन हानि-लाभ सब गुनकर।।
देवदत्त जब लगा छीनने स्वयं सभा में पक्षी ।
अनाचार से हुए सभ्यजन आहत, बने विपक्षी ।।
एक वृद्ध स्वर गूँजा, था अधिकार हंस यदि मृत हो जाता।
सदा श्रेष्ठ माना जाता है दुनिया में घातक से त्राता ।।
पूरी सभा समर्थन स्वर में बोली संथागार गुंजरित ।।
न्याय हुआ सिद्धार्थ पक्ष में, देवदत्त ज्यों नाग फुंकरित ।।

निर्दयता पर करुणा की जय !
मरु में जलधारा का संचय !

बीच में सिद्धार्थ बैठे शान्त
नन्द-छन्दक साथ
शीतल जामुनी छाया
पाँच गीत-कुमारियों के स्वर सधे
वन-कुँज में, संगीत लहराया।
कोकिलाएँ मौन उनको पराजित करने,
है यहाँ यह कौन दल आया ?

सोचते सिद्धार्थ
मेरा मन, स्वयं ही
क्यों लगा खिंचने अचानक उन स्वरों की ओर?
जो हैं मधुर बीनों से अधिक
क्या कहूँ, क्या इन्हें समझूँ
प्राण-पोषक या वधिक ?
ये कहाँ से आ गयीं संगीतिकाएँ?
राग की, अनुराग की नव शृंखलाएँ ?
पृष्ठ संख्या : 23
ये ललित-स्वर संवलित
जीवित कलाएँ?

बाँधती मन उसे अनुरंजित बनाकर,
मार-कन्याएँ कि यह, विधि की विधाएँ?
कैसा अद्‌भुत प्रकृति का व्यापार
एक का आहार बनता दूसरा
वही जल में, वही थल में, वही नभ में
कीट हो या भेक हो, या सर्प हो या श्येन
क्षुधातुर हो जहाँ भी दो जीव आते पास
स्वयं बनते या बनाते दूसरे को ग्रास

किन्तु एक मनुष्य ही है
जीव जिसका सदा पशुधर्मी नहीं रहता ।
हृदय की करुणा, हृदय का स्नेह
हृदय से कहता ।
एक सहज प्रवाह करुणा का
कहीं जीवन में सतत बहता।
मै उसे जल-स्त्रोत से निर्झर बनाकर
करूँगा सबको सुलभ
तृषा सबकी मिटाने के हेतु, सरिता सदृश—
प्राण भी अर्पित करूँगा।

•

कृशा

बड़े नेत्र वाली कृश कन्या।
चंचल प्रकृति, मृगी ज्यों वन्या।।
वाणी मधुर, सुधाधर रक्तिम,
गौर वर्ण, कच-राशि अनन्या।।

जब होते सिद्धार्थ सामने,
नयन-पुटों से छवि अँकोरती।
दूर चले जाते जब भी वे,
पलक मूँद, सुधियाँ बटोरती।

सहचर, पूरक युगल परस्पर।

भावों से अभाव लेते भर।।
मिलन-विकलता घेरे रहती।
मन से मन का आशय कहती।।

एक सहज मैत्री की छाया।
क्षीण-क्षाम यह, वह कृश-काया।।
विश्वासी यह; वह भी सरला।
हँसी फूटती, विमला, तरला।।

शुद्धोदन आश्वस्त हुए कुछ,
दोनों में आकर्षण देखा।
जब विराग रागोन्मुख पाया,
मिटी तनिक चिन्ता की रेखा।

महामात्य संकेत समझ कर।
हुए और भी मन में तत्पर।

हेल-मेल निर्बाध हो गया,
दोनों का मन रहा स्नेह भर।
उत्सुक सहचर।
प्रणय पुरस्सर।

कपिलवस्तु की वस्तु-वस्तु पर,
था उनका अधिकार अपरिमित।
किन्तु उन्हें था वन-पथ भाता,
तरु-छाया, सरिता-तट विस्तृत।
जैसे मृग-शावक संचरते।
वैसे ही यह युगल विचरते।

जब विवर्धित हुए,
तन-मन से सहज सिद्धार्थ।
सब समझने लगे,
क्या है स्वार्थ, क्या परमार्थ।
शाक्य-वंश-परम्परा का
राजसी संस्कार,
मोक्ष से पहले यहाँ हैं
और भी पुरुषार्थ।
एक दिवस

शुद्धोदन बोले—
"सुनो वत्स !
मुझको तुमसे जो कुछ कहना है।
नगरवासियों का लांछन
अब और नहीं मुझको सहना है।"

"क्या लांछन है ?
पितृ देव ! मैं भी तो जानूँ।
फिर इतना अवसर दें,
मैं अपनी त्रुटि समझूँ, मानूँ ।"

"त्रुटि का कोई प्रश्न नहीं है,

आशंकाएँ ही हैं उनकी।
वे सब भी हैं—
शाक्य-वंश के परम हितैषी।"

"मैं उनकी आशंकाओं को दूर करूँगा।
और आपके मन में भी उत्साह भरूँगा।
आप न हों किंचित भी चिन्तित
औरों-सा मुझको मत लेखें।
पालन करने को तत्पर हूँ,
कुछ आज्ञा देकर तो देखें।
यह मैं हूँ सिद्धार्थ आपका,
कहें आप, जो कुछ कहना है।
आप सदृश अभिभावक हो तो
सदा प्रतीक्षा में रहना है।"

शब्दों की गरिमा,
आशय की महिमा,
दोनों—
शुद्धोदन को चकित कर गयीं।
वत्सलता की लता,
लहलहा उठी—
पत्तियाँ ओस भर गयीं।

"शस्त्र-ज्ञान, आखेट, हयारोहण, रथ-चालन।
मल्ल-युद्ध, संधान, लक्ष्य-वेधन, गति-पालन।।

सब साधन हैं सुलभ, ज्ञान-अर्जन में मति हो।
तुम ही हो युवराज, सुशासन में सद्गति हो।
चिन्तन, ध्यान, मनन, एकान्त नहीं इसका पथ।
अन्त कहाँ होगा, यदि ऐसा बना रहा अथ?
और मुझे कुछ भी करना है नहीं विस्तरण ।
क्षात्र-धर्म से न हो तुम्हारा विमुख आचरण।"

पृष्ठ संख्या : 27

सुनकर शब्द पिता-श्री के सिद्धार्थ मौन थे।
जनक-जगत के बीच विभाजक तत्व कौन थे?
लगे सोचने कुछ क्षण, फिर बोले दृढ़ स्वर में—

"आप रहें निश्चिन्त, न आरोपों से भरमे।
मैं सब क्षात्र-धर्म अपने में उदित पा रहा।
उनकी उष्मा से भी मानस मुदित पा रहा।
शान्ति, अहिंसा पर फिर भी है आस्था मेरी।
दोनों में अविरोध देखने में क्यों देरी।
आप पिता हैं, तेज आपका मुझमें आया।
और कहाँ से तत्व-ज्ञान यह मैंने पाया ?
मैं दोषी हूँ, आप दोष से मुक्त कहाँ हैं ?
मैं भी तो हूँ वहीं, आप भावस्थ जहाँ हैं।
वचन दे रहा हूँ, मैं पथ से विपथ न हूँगा।
शाक्य-वंश की परम्परा में रहा, रहूँगा।
कुल-गौरव मेरी गति से क्षति-ग्रस्त न होगा।
भूमि-राज्य यह, मनोराज्य से अस्त न होगा।
शस्त्राघात न मुझसे होगा
निरपराध जीवों के ऊपर।
करुणा का साम्राज्य बनाना है
मुझको पशुतामय भू पर।

अभिमन्त्रित कर गये शब्द प्रत्येक दिशा को।
आलोकित कर गया अर्थ-रवि मोह निशा को।
शुद्धोदन रह गये मूक, आश्चर्य चकित-से ।
नेत्र देखते रहे वत्स-मुख-तेज थकित-से ।

क्रीड़ा-स्पर्धा, उद्यानोत्सव, अश्वारोहण।
जहाँ कहीं भी गौतम पाते विजय विलक्षण।
शुद्धोदन प्रसन्न होते सुन कीर्ति निरन्तर।
तो भी शंकाकुल ही रहता उनका अन्तर।

पृष्ठ संख्या : 28

अभ्यागत अगणित युवजन युवतियाँ अपरिमित।
कोलाहल से पूरित क्रीड़ा-स्थल आन्दोलित।
आकर्षण, नेत्रानुबन्ध, स्मिति, हास-उच्छलन।
मुखर मौन, ध्वनि-संकेतों सन्देश-संवहन।
लहराता सौन्दर्य-सिन्धु उल्लास-धरा पर।
हुए मुग्ध सिद्धार्थ अचानक यशोधरा पर।
राजनन्दिन, रूप-गर्विता, कोमल काया।
मूर्तिमती हो, प्रकटी मानों ममता-माया।
जिज्ञासा-औत्सुक्य-विकलता-मय कुमार-मन।
आस-पास से विलग हो उठा, उन्मन-उन्मन।
कहा कृशा ने—
" दृष्टि किधर है, चित कहाँ है ?
जान गयी मैं ।।
नये भाव का केन्द्र जहाँ है !
नाम जानना चाह रहे हो, यशोधरा है।
प्रकट देवदह राजवंश की परम्परा है।
जिसे देखने को सब आकुल-व्याकुल रहते।
वही स्वयं हो विकल, इसी को विस्मय कहते।"
दृष्टि उठाकर जब कटाक्ष-रक्षित मुख देखा।
अधरों पर कुमार के झलकी स्मिति की रेखा।
" कृशे ! बता कैसे इतनी सर्वज्ञ हुई तू।
बाहर से प्रसन्न, भीतर से छुईमुई तू।
मैं क्या इतना चपल, जिसे देखूं खो जाऊँ।
मैं अपना ही रहूँ, किसी का क्यों हो जाऊँ ?"

आकर मुख के पास, कान में कहा कृशा ने।
"तुमको इतना विकल कर दिया रूप-तृषा ने।
मैं क्या जानूँ तुम किसके हो, किसके होगे?
तन-मन दोनों पास, किसे तुम कब क्या दोगे ?"

" अरी कृशे ! तू हो बैठी इतनी क्यों विचलित ?
क्या ऐसी ही यशोधरा होगी ईर्ष्यान्वित ?

पृष्ठ संख्या : 29

"यशोधरा का गुन गाना है, जी भर गाओ।
किन्तु मुझे तो व्यर्थ न यों ईर्ष्यालु बनाओ।
नाम बताया मैंने, कुछ कृतज्ञ भी हो लो।
तुम्हें देवदह का परिचय था पहले ? बोलो !"

हाथ जोड़ सिद्धार्थ झुक गये, " लो कृतज्ञ हूँ।
और अधिक अपने भावों का क्या प्रमाण दूँ।"

"जहाँ झुका मन, वहीं झुकाओ काया अपनी।
कर दो मुझको मुक्त, समेटो माया अपनी।"

" इतना सात्विक रोष, कृशा तू कितनी सुन्दर !
मुझसे इतना स्नेह मानती रही निरन्तर !
तू ही है छविमयी, धरा क्या यशोधरा में।
ले अब तो हो सुखी, चला मैं उधर त्वरा में।"

भीगी आँखों कृशा देखती रही राह को।
जिस पर गये कुमार, कुचल उसकी कराह को।

शुद्धोदन सह-महामात्य मन्त्रणा-लीन थे।
अपने सुत की परिणय-चिन्ता में विलीन थे।
यशोधरा कुल वधू बने तो ठीक रहेगा।
पर यह सब कैसे सम्भव हो, कौन कहेगा?
रूप-शील उसका उनको आश्वस्त बनाता।
पर सिद्धार्थ-स्वभाव सतत शंका उपजाता।
पिता सोचते, सदा अनमना रहने वाला।
कैसे जायेगा इससे दायित्व सम्हाला?
क्या इसका मन बँध जायेगा प्रणय-पाश में ?
अब तक उड़ता रहा मुक्त जो महाकाश में ?
कौन बनाएगा स्थिर क्षणभर के परिचय को ?
उत्सुक तो हैं नृपति देवदह के परिणय को।
अभी-अभी सन्देश सुखद उनका आया है।
और कृशा ने भी मुझको कुछ बतलाया है।

उससे लगता है, जैसे कुछ होनहार है।
क्यों आया सबके मन में ऐसा विचार है।
मेरे मन में यशोधरा के प्रति क्यों इतना—
उमड़ रहा आत्मीय भाव, गौतम के जितना।

और यही सिद्धार्थ सोचते थे—
बैठे एकान्त कक्ष में।
ले समुद्र को, टकराता हो

जैसे कोई ज्वार वक्ष में।

महाराज ने छंदक को आदेश दे दिया।
विनत सारथी 'जो आज्ञा ! कह विदा हो गया।।
गूँज रहा आदेश दिशाओं के प्रवाह-कम्पित परिसर में।
मनुज-देव-गंधर्व सुन रहे धरती अन्तरिक्ष अम्बर में।

कहीं किसी
दुख-पीड़ित, आहत रुग्ण, वृद्ध, विकलांग व्यक्ति पर
दृष्टि न पडने पाये क्षणभर भी कुमार की।
कहीं किसी मृत-प्राय जीर्ण प्राणी की काया
उनके सन्मुख प्राण-हीन मत होने पाये
ज्यों ही ऐसा क्षण आये—तुम उनको लेकर
द्रुततम गति से आगे बढ़ जाना रथ-पथ पर
जलती हों जिस ओर चिताएँ,
मत सिद्धार्थ उधर को जायें।
बढ़ते आग्रह को तुम अपनी विनयशील वाणी से
शान्त बनाना
उफनाते पय पर शीतल जल के छींटे
पड़ते हों जैसे।
ओ छंदक !
ओ छंदक, छंदक !!
इसमें नहीं चूकना किंचित।
राजदण्ड से अपने कुल की
मृत्यु अन्यथा समझो निश्चित।

सोच रहा छंदक आदेशों से आहत मन।
लगता है अब नहीं बचेगा मेरा जीवन।।
होगी ऐसी कौन राह जो ताप-हीन हो ?
चला न जिस पर अब तक कोई दुखी-दीन हो ?

कपिल वस्तु में सुख ही सुख हो
किन्तु चतुर्दिक दुख-प्रदेश है;
और कहाँ ऐसी धरती है
जहाँ मृत्यु-साम्राज्य शेष है ?
राजवंश क्या सदा अमर है,
राज-रक्त क्या रोग-रहित है ?
राजदण्ड की हर कठोरता

प्रजा-विरोधी, स्वार्थ निहित है ?
महाराज ही यदि कुमार के
सन्मुख मृत हो जायें सहसा ?
क्या जी कर वे पुनः मरेंगें ?
मृत्यु-दण्ड तब किसको देंगे ?
मैं सेवक हूँ, वे शासक हैं,
नीति-धर्म सब उनके हित में ?
कहाँ उन्हें अवकाश कि समझें
क्या रहता सेवक के चित में ?

•

भावी अपना मार्ग स्वयं ही रच लेती है।
आगत के अनुकूल बुद्धि-मन कर देती है।
किन्तु मनस्वी कोई उसकी दुर्वह गति को—
मोड़, चुनौती देता जैसे स्वयं नियति को।

यज्ञ-अश्व के केश थाम, लव-कुश बन जाता।
प्रभुता के प्रतिरूप राम से रण ठन जाता।

धरती की पुत्री सीता का स्वत्व जहाँ हो।
फिर कैसे सम्भव है उसकी जय न वहाँ हो।
माना गौतम त्याग-तितिक्षा-मय विनयी थे।
राजपुत्र सिद्धार्थ नाम से स्वयं जयी थे।
मैं तो प्राणिमात्र के दुख के लिए विकल हूँ।
छोड़ राज परिवार मोह से पड़ा निकल हूँ।

मुक्ति-कामी हूँ इसी से—
लोक-बन्धन भी हुआ मुझको सदा स्वीकार,
बन्धनों के बिना कोई—
क्या कभी भी जान पाया मुक्ति का आधार !
मुक्त है वह बन्धनों के बीच जिसने अनुभवों का द्वार देखा।
हुआ अविचल मुक्ति का जीवन्त जिसको बोध
वह नहीं है मुक्त जिसके चित्त में हो
वासना का ज्वार, मन में उफनता हो क्रोध।

मनुज मन ही रहा बन्धन-मुक्ति का कारण।
मुक्ति वह जो करे मन से मोह का वारण।

एक निमित्त और भी था जिसकी नयी
क्या दारिद्य विरक्ति नहीं उपजाता था तब।
सोच रहा कवि क्यों निमित्त यह नहीं रहा तब !
राजाज्ञा से मृत्यु-जन्म संत्रास छिपाया नहीं जा सका।
राजाज्ञा से त्याग-मूल संन्यास मिटाया नहीं जा सका !
वृद्ध जनों का कर न सकी वारण राजाज्ञा।
रोग-नाश का बन न सकी कारण राजाज्ञा।
राज-पुरुष भी भोग-वृत्ति से रोगी बनते।
राज-पुरुष भी राज्य-त्याग से योगी बनते।
वृद्धावस्था-मृत्यु, राज-भय नहीं मानती।
राज-पुरुष भी मरते, दुनिया यही जानती।
कितनी भी दुर्धर्ष शक्ति हो, नहीं जानती।
प्रकृति राजपुरुषों का शासन नहीं मानती।

पृष्ठ संख्या : 33

नहीं टिका है अहंकार स्रष्टा के आगे।
सदा खुला है मुक्ति-द्वार द्रष्टा के आगे।
कैसे छिपते यह निमित्त ध्यानी गौतम से।
कैसे ढँकता सूर्य-रश्मियाँ कोई तम से ।।

पृष्ठ संख्या : 34

•

भूमिपात

उपवासों से और व्रतों से
क्षीणकाय हो
सुगत बुद्ध निश्चेष्ट गिर गये।
चले नदी-तट को—
जल पीने;
अन्धकार से
नेत्र घिर गये।

दुर्बलता ऐसी कि
देह कंकाल हो गई।
मूर्च्छित हो
गिरते ही भू पर,
काया निपट
निढाल हो गयी।

किसे ज्ञात था
मुद्रा भूमिस्पर्श
कभी ऐसी भी होगी।
यही लग रहा था जैसे वे—
शांत शयन कर रहे निरन्तर,
समाधिस्थ हो जैसे योगी।

सद्यवत्सला
यशोधरा को छोड़
हो गये पूर्ण कृशामय।

छः वर्षों तक रहे
साधनालीन दीप्ति से आपूरित हो
देह क्षुधामय;
प्राण तृषामय।

और कभी क्या
कोई इतना लड़ा प्रकृति से !
किसमें इतनी दृढ़ता
इतना साहस था जो—
मात्र वायु सेवन कर
इतनी आयु बिता दे।

पंच भिक्षु वे
किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये,
बार-बार जल—सिंचन से भी
नहीं चेतना जागी उनकी।

मंद श्वास-गति
धीरे-धीरे रुद्ध हो चली।
उन्हें सर्वथा मृतक मानकर।
क्रिया-कर्म-कर्तव्य भूलकर।
शिष्य चल दिए परम भयातुर !
सबकी मति अवरुद्ध हो चली।

नंदा-गोपा ने

करके सेवा-परिचर्या।
उन्हें दिया नवजीवन,
बदल गई दिन-चर्या।
कृच्छ-साधना
सार-हीन, किया विनिश्चय।
मन-क्षय ही है काम्य।
नहीं श्रेयस्कर तन-क्षय।

पृष्ठ संख्या : 36

•

सुजाता

पूजा की, प्रदक्षिणा की, कितनी मनौती मान,
पाया वरदान वटराज ताप-त्राता से,
हुई परिणीता, भरी गोद, कृतकृत्या हुई,
मिलने को आयी पति पुत्र के प्रदाता से |
किसके समीप कौन आता किस हेतु कब,
पूछता हूँ, उत्तर मिलेगा क्या विधाता से ?
कहाँ शाक्य सिंह, कहाँ कुनबी की कन्या वह,
नाता रहा जाने किस जन्म का सुजाता से ।

भरकत-बिन्दु के समान द्रुम-दल-फल
जटिल जटाएँ कामनाओं सी विशालता।
सभासीन बुद्ध तपलीन क्षीण-क्षाम अंग,
हुआ ध्यान भंग, पास आयी जब आगता।
मैं हूँ एक नारी—इतना ही जानती हूँ बस,
बुद्धि के विधान से बड़ी है लोक-मान्यता।
भले अपने को आप मानव बताते रहें,
मेरे लिए किंतु आप ही हैं वट देवता।

चकित हुए कौण्डिन्य
देख यह दृश्य अकल्पित।
लौटे चारों शिष्य,
हुए सुन वे भी जल्पित।
इतने वर्षों की निरन्न-जल कठिन तपस्या ।
उसकी ऐसी परिणति, कितनी गहन समस्या ।
राजपाट, घर-द्वार त्यागकर, यह गति पायी ।
नियति- नटी का नृत्य बहुत, अदभुत है भाई?

पृष्ठ संख्या : 37

योगी नहीं महा ढोंगी यह, भ्रष्ट-तपस्वी।
हम उसको गुरुदेव मान क्यों करें यशस्वी।
स्वर्ण-पात्र में यह पायस का भोग लगाये।
रत्नजटिल झारी से अपनी प्यास बुझाये।
अब यह क्या दुख दूर करेगा मनुज-मात्र का।
वट-छाया में बस सुख लेगा मृदुल गात्र का।
अन्तर्मुखी इन्द्रियाँ इसकी हुई बहिर्मुख।
चलो चले हम, हरें नारियाँ ही इसका दुख।

कहा एक ने रुककर
समझे बिना परिस्थिति।
सहसा निर्णय नहीं उचित
सोचो तो अथ-इति।

कहा दूसरे ने, गुरु से आज्ञा तो ले लें।
मुखर तीसरा, महा कष्ट यह हम क्यों झेलें ?
जब श्रद्धा ही नहीं रही, क्या आज्ञा लें हम !
करे रंग में भंग भला क्यों, चलो चलें हम।
हम भी वट के नीचे बैठें, चौथा बोला।
गुरुवर का अनुसरण करें, त्यागें यह चोला,
अरे मित्र कौण्डिन्य हमें भी कुछ दिखलाओ।
हाथ उठाकर बोल उठे सब, आगे आओ !
लौट चले वे दृश्य देखने समासक्ति का
मोहित गुरु को देख तिरोहित भाव भक्ति का—
तुम्हीं देख पाये उस छवि को, हम बेचारे
नहीं देख पाये कुछ भी लज्जा के मारे
योग भोग की ओर मुड़ चला, विजय मार की।
सब श्रम निष्फल गया, शक्ति हारी विचार की।
शंकाकुल संदेह अश्रद्धा-ग्रस्त शिष्य वे।
अविश्वास की ज्वाला में जलते हविष्य वे।
बुद्ध विमुख हो गये, अन्ततः काशीवासी।
गहन विपिन मृगदाव रहे बनकर सन्यासी।

पृष्ठ संख्या : 38

जब सुजाता
नव वधू से बनी माता।
जग उठा संकल्प
जिसकी मनौती से

यह सुफल पाया
हुआ अनुकूल प्रतिरोधक विधाता
अब उन्हीं वट-देवता को
पूजना है प्रथम, अपने वही त्राता,
हो गया इतना समय
ऐसा न हो वे रुष्ट हो जायें कहीं,
ले छीन अपना दिया सुख सौभाग्य सारा।
तोड़कर युग-युगों का नाता,
एक भय का स्फुरण होते ही
झुकाया माथ, आँचल शीश पर रख,
गोद में शिशु को सम्हाले
हाथ जोड़े
मन्त्र-सा पढ़कर विनय की
हे महावट देवता ! तुम रूठना मत
भेज पूर्णा को प्रथम सिंचन कराकर,
पूर्णिमा को करूँगी अर्चन तुम्हारा।
प्राणियों के शरण दाता।

निखर आया और भी
इस भाव से सौंदर्य उसका।
छलकते जल से भरा घट,
जिस तरह लगता सुहावन।
पुष्प-पल्लव युक्त
मंगल-मूल पावन।
काम-सखा वसन्त की वे पाँच सहचरियाँ,
सदा जाग्रत, सदा सक्रिय, व्यस्त आठो धाम।
भैरवी चित्रा कमलिनी सुरभि सुरुचि सुनाम,
चित्त को विक्षुब्ध कर देना उन्हीं का काम |

वे सब आयीं निकट
विचिंतित देख मार को।
संचित करने लगीं
शपथ ले, शक्ति-सार को।

रति अरति तृष्णा
सहायक हो गयी

कहा सुरुचि ने

मै चलती हूँ
तपः पूत
काया गौतम की निराहार तो
टिक न सकेगी।
मेरे बिना
कौन जाने कब मृत हो जाये।
कहाँ अवतरित होगा
फिर वह दिव्य ज्ञान सब;
मैं बाधक बनकर ही
साधक बनूँ अन्ततः
समा गयी गौतम के मन में—
अरति बनी रति,
तृष्णा बनकर भूख-प्यास जागी शरीर में।
ध्यान भंग हो गया
क्षुब्ध गति,
कठिनाई से पलक खुले
पर दृष्टि अचल थी।
विजड़ित थीं पुतलियाँ
श्वास ही केवल चल थी।
सहसा चंचल हुई पुतलियाँ
आँखों में आलोक भर गया।
अन्तर्मुख था चित्त बुद्ध का
जगा, बहिर्मुख उसे कर गया।

पृष्ठ संख्या : 40

देखा कटि-पट जीर्ण हो चुका,
क्षीण अंग, सब मलिन गात्र था।
रीढ़ पसलियाँ अलग दीखतीं,
चर्म-युक्त कंकाल मात्र था।
मेरी ही यह देह, नहीं विश्वास हो रहा।
कैसे इतना शिथिल श्वास-प्रश्वास हो रहा।
था एकासन समाधिस्थ मैं कितने दिन से
कहाँ गये सब शिष्य आज वे
कहूँ सुनूँ पूँछ मैं किनसे ?
कैसे बन्दनवार तने हैं,
किसका स्वागत ?
अपने मन में—
सोच रहे थे मौन तथागत।
लिपी-पुती यह धरती क्यों है ?

रहा यहाँ क्या कोई आता
ठीक उसी क्षण देख पड़ी
पूर्णा दासी के संग सुजाता !

हे सुजाते !
मैं नहीं वट-देवता,
मैं तो मनुज हूँ।
नहीं अधिकारी
तुम्हारी अर्चना का
वंदना का।
जो समर्पित किया पायस
लो सहेजो साथ ले जाओ
यहाँ उसका नहीं है उपयोग कुछ भी।
मैं रहूँगा अभी और निरन्न-निर्जल;
हठ नहीं करते सुजाते !

चकित हो बोली सुजाता
सुनो त्राता !

हठ कहाँ मेरा
हठी तो आप हैं,
हठ-योग से
छोड़े हुए सब अन्न-जल
क्या और कोई
इस तरह काया सुखाता।

आप तो वट-रूप हैं साकार !
ठीक वैसे ही जटिल
लम्बी जटाएँ
भूमि तक फैलीं
उसी की छाल सी,
खुरदरी चमड़ी निरन्तर
धूल की पर्तें चढ़ीं जिस पर
कठिन कोटर-सा उदर
क्या नहीं लगता ?

देखकर तन आपका रोमिल अकम्पित,
स्वयं ही

वट देवता का भाव जगता |

हों मनुज
पर आप मेरे लिए
केवल देवता हैं।
मूर्तिमय आराध्य मेरे !
सिद्ध मेरे, साध्य मेरे ।
कहाँ ऐसा देवता है और दूजा ?
जो प्रकट होकर
हमारी ले परीक्षा।
मानती हूँ मैं इसी को देव-दीक्षा।
लो चली मैं

समर्पित है आपको—
सम्पूर्ण पूजा।
उधर प्रसन्न सुरुचि थी,
अपनी विजय मानकर।
मार हुआ संतुष्ट
तपस्या भंग जानकर।
लुक-छिप कर कुदृष्टि से
जो कुछ देखा भाला।
नहीं जान पाये वे
उनके शिष्यों ने
क्या अर्थ निकाला ?
बिना भाव-तक पहुँचे ही बस
मान लिया
सफेद को काला।

परिक्रमा कर चली सुजाता,
लिए साथ में पूर्णा दासी।
उसकी वाणी से प्रसन्न गौतम पर
फिर छा गयी उदासी।

लगे सोचने—नहीं त्याज्य है—
भाव सत्य यह !
ऐसा दृढ़ विश्वास
सिद्धिदायक होता है।

भले सुजाता को भ्रम हो,
पर मैं उसकी
पावन पूजा स्वीकार करूँगा—
जिसकी छाया सबको प्रिय है
उस वट का
व्यक्तित्व वरूँगा।

पृष्ठ संख्या : 43

उठे स्वयं फिर कर से
पायस-पात्र उठाया
ग्रहण किया, जल पिया।
नदी में सूर्य बिम्ब सा—
स्वर्ण-थाल वह, फेंक-बहाया।

पृष्ठ संख्या : 44

•

मार-विजय

मार की सेना खड़ी है सामने ।
एक संकट की घड़ी है सामने |
नेत्र विस्फारित प्रकोप प्रचण्ड है ।
हाथ में दृढ़ मृत्यु का भय-दण्ड है।
पैर के नीचे प्रकम्पित है धरा ।
विपिन सारा थरथराहट से भरा |
उग्र भैरव रूप, छाया रूद्र की।
गर्जना में गूँज क्षुब्ध समुद्र की ।
श्वास से तरु उखड़ने-झड़ने लगे ।
फूल काँटों की तरह गड़ने लगे ।
घुप अँधेरा छा गया आकाश में ।
पर न आया बुद्ध का मन पाश में
मति अविचलित हो रही, ध्रुव ध्यान में।
सुरक्षित तलवार जैसे म्यान में !
क्या कहे कवि चित्त की गति कौन थी ?
समाधिस्थ शरीर, वाणी मौन थी ।
थीं सभी अन्तर्मुखी ज्ञानेन्द्रियाँ ।
स्वयं ही निश्चल हुई कर्मेन्द्रियाँ ।

काम क्रोध मद मोह लोभ द्रव ।
राग-द्वेष विक्षोभ, क्षोभ सब ।
महारथी निस्तेज हो रहे ।
सैनिक साहस धैर्य खो रहे ।
पद्मासन को छू न सके वे ।
सब प्रयत्न कर स्वयं थके वे ।

क्षुब्ध हुआ अपमान मानकर ।
मार मारता वाण तानकर ।
लगा सोचने और करूँ क्या ?
आकर्षक नव रूप धरूँ क्या ?

प्रकट हुआ नव इन्द्रजाल-सा ।
कण-कण में जग उठी लालसा ।
सहसा शिशर बसन्त हो गया ।
उग्र रूप का अन्त हो गया ।

विष बुझे वे वाण पुष्पित शर हुए ।
नेत्र आयत कमल से सुन्दर हुए ।
विकृत मुख, सुख-स्निग्ध-स्मित आनन हुआ ।
नवल-पल्लव, यश-धवल कानन हुआ ।
अरति रति बनकर विरति में मिल गयी ।
लगा जैसे बुद्ध की छवि हिल गयी ।
भैरवी, चित्रा, सुरभि सब चल पड़ीं ।
नृत्य करती, वृत्तियों से जा लड़ीं ।
काम-कन्याएँ कुशल रति-कर्म में ।
लगीं बाधा डालने ध्रुव धर्म में ।

यह उरु वेला ग्राम निकट,
एकान्त शान्त तट निरंजना का ।
अन्धकार में ज्योति फूटती,
बनती जहाँ तमिस्रा राका ।
जलते शव भव के स्वरूप का दे नव परिचय ।
परिणति नियति यही, तब क्या धन-साधन संचय !
अर्थ व्यर्थ, परमार्थ स्वार्थ से ऊपर तिष्ठित ।
त्याग भोग से श्रेष्ठ, ज्येष्ठ बुद्धत्व प्रतिष्ठित ।
यह देखो कौण्डिन्य जा रहे हैं शव-यात्री ।
निर्वापित कर चिता, जलाकर अपनी धात्री ।

पृष्ठ संख्या : 46—(निर्वापित—बुझाना)

बड़ी शीघ्रता है, कपाल खण्डित कर देंगे ।
अस्थि-कलश को फिर महिमा-मंडित कर देंगे ।
अद्‌भुत यह आचरण, मरण से मुक्ति नहीं, भय ।
मुझे नहीं स्वीकार्य, कार्य मेरा मृत्युंजय ।
मानव का यह घृणित स्वार्थ, यह दैन्य अवांछित ।
तेजस्वी व्यक्तित्व मनुज का मुझको कांक्षित ।

•

इन्द्रिय दमन, शमन मन का जब लक्ष्य बनेगा ।
महाध्यान आस्फानक से तब सत्य छनेगा ।
एक ग्रास प्रति मास अशन मेरा कम होगा ।
इसी नियम से एक वदिर अन्तिम क्रम होगा ।

इतना कहकर ध्यानलीन हो गए तथागत ।
किया पंच शिष्यों में उनके व्रत का स्वागत ।

मैं तृष्णा-पथ की प्रदर्शिका-रति हूँ ।
मैं रति की सहोदरा किन्तु
नाम से ही लगती विपरीत,
काम से सहकर्मी हूँ और अरति हूँ।

गहन आत्मविश्वास त्रास मन में भरता-सा ।
रहा अडिग संकल्प, अल्प सबको करता-सा ।
मन के गहन विपिन की सब कन्याएँ हारीं ।
मार पराजित हुआ, काम-कन्याएँ हारीं ।
ध्यान-बिन्दु पर हुई मनुज की भक्ति अपरिमित ।
झुकी तथागत के चरणों में शक्ति अपरिमित ।
एक व्यक्ति वह युग-युग की गति का संवाही ।
बदल गया लौकिक जीवन की ज्ञात दिशा ही ।
प्रज्ञामय आलोक, शान्त, पावन प्रियदर्शी ।
हुआ प्रस्फुटित अन्तर्तम से मर्मस्पर्शी ।

पृष्ठ संख्या : 47

अचला वसुन्धरा को छूकर
चिर प्रशान्त बुद्धत्व प्राप्ति का
सुदृढ़ प्रमाण दिया गौतम ने ।
सबके सन्मुख दक्षिण कर से ।
भूमि स्पर्श किया गौतम ने ।

अपने मन की अविचलता का ।
सुदृढ़ प्रमाण दिया गौतम ने ।
साक्षी देकर, दक्षिण कर से ।
भूमिस्पर्श किया गौतम ने ।
कभी न खाई मैंने माटी,
माटी की धरती पर रहकर ।
जैसे कोई शिशु कहता हो,
अचला माँ का आँचल गहकर ।
सुदृढ़ प्रमाण दिया गौतम ने ।
वसुन्धरा की साक्षी देकर,
भूमिस्पर्श किया गौतम ने ।

•

एक वर्ष हो गया, रहा व्रत का क्रम चलता ।
वशीभूत हो गयी पवन-मन की चंचलता ।
गए शिष्य भिक्षार्थ, रहे सिद्धार्थ ध्यानरत ।
सहसा उसमें प्रकट हो उठे भाव मनोगत ।
अमल कमल अरुणाभ अमित आलोक समन्वित ।
नील-पीत जल तल से ऊपर उठा सम्पुटित ।
धीरे-धीरे पंखरियों में रूप खिल उठा ।
नरी का आभास, श्वास से वृन्त हिल उठा ।
कुछ पहचानी-सी आकृति वह लगी सुगत को ।
कहो कौन तुम ? प्रश्न-बद्ध कर दिया स्वमत को ।
'हर पंखुरी काम-कन्या है छद्म-कमल की ।
इसीलिए पहचानी आकृति मुझमें झलकी ।'
हम मानव-मन में युग-युग से वास कर रहीं ।
रूप-बोध से, रस से सब सन्त्रास हर रहीं ।
हम कल्पना, कला की प्रेरक, जन कल्याणी ।

हमसे ही झंकृत वीणा, समलंकृत वाणी ।
निर्वासन दे हमें, कि दें यह जीवन-यापन ।
किसी शून्य के लिए नहीं जीवन का शासन ।
रंग-रूप से रचित, खचित मणि-रत्न भाव के ।
सम्भव नहीं निषेध, वेध गहरे प्रभाव के ।
जलता दीपक ही शोभन, क्या बुझे दीप में ?
निष्प्रेरक निर्वाण, दीप्ति क्या बुद्ध-सीप में ।
खुली शुक्ति हो, तभी मुक्ति-मुक्ता छवि पाते ।
देवात्माएँ तृप्त, प्रेरणाएँ कवि पाते ।

'मुखर बुद्ध-मन हुआ'—"नहीं मानव देवाश्रित
अपने ही अनुशासन में रहता अपना हित ।
विकृत चित्त से रची कला विकला ही होगी |
योगी के समकक्ष नहीं रोगी या भोगी |"
ध्यान-योग के बिना नहीं सम्भव है रचना ।
रचना-हित में नहीं कभी अनुभव से बचना ।
भोग-रोग के बीच प्रकट अनुभूत सत्य को ।
धारण करता मनुज, त्याग देता असत्य को ।

द्वन्द्व-युक्त जीवन ही शुभ है, द्वन्द्व-मुक्ति की व्यर्थ कामना
केवल भोग त्याग देने से, मन की मिटती नहीं वासना ।
माना एक मार्ग है यह भी, वन में बसना, मन को कसना ।
रस जीवन का सार नहीं क्या रस से विरत रहे क्यों रसना ।
पर रस ही जीवनाधार है
परिव्याप्त सौन्दर्य रसों में,
व्यक्ति रहे क्यों उससे वंचित ।
सुन्दरता के श्री-वैभव को मानवता क्यों करे न संचित ।
मन रूखा हो, तन भूखा हो, सूखा हो जीवन ही सारा ।
इसमें कहाँ लोक हित गौतम, उसमें क्या कल्याण तुम्हारा !
इतना कहकर लीन हो गयी वह नारी-छवि हृदय-कमल में ।
वाणी से संक्षोभ हो उठा परमशान्त मानस के जल में ।
ध्यान-भंग हो गया, खुल गए आयत लोचन ।
स्वर ने मन को छुआ, मुक्ति का हुआ विमोचन ।

हृदयहीन मैं नहीं, न मेरा तन रूखा है ।
जन-जन भव-संत्रस्त, भावना का भूखा है ।
किन्तु भावना जो विचार पर नहीं प्रतिष्ठित ।
कहाँ कर सकेगी जग को, विश्राम अधिष्ठित ।
मैं आया परमार्थ साधने, स्वार्थ त्यागकर ।
जैसे कोई स्वप्न-मुक्त हो जाय, जाग कर ।
पुनः सुलाना नहीं चाहता, जाग्रत मन को ।
स्वप्न-त्रास से रखना रक्षित जीवन को ।
दावानल से ग्रस्त विपिन तजते पशु-पक्षी ।
वैसे ही वासना छोड़ देते संलक्षी ।
वन से अधिक भयावह मन है, दुख से जलता ।
इसे चाहिए प्राणों की पावन शीतलता ।
करुणा का संचार विश्वभर में जब होगा ।
तभी व्यक्ति-मन अपना सब दुख भूल सकेगा ।

बिना विगत से मुक्त हुए कल्याण नहीं है ।
मानव का वासना-वह्नि से त्राण नहीं है ।
मुझे विकारों के द्वारों को जय करना है ।
जन्म-जन्म के संस्कारों का क्षय करना है ।
अगर हुआ मैं सफल मोह की छूटी कारा ।
जन-जन के त्रय-ताप हरेगी करुणा-धारा ।

मार क्रुद्ध हो उठा, बुद्ध की वाणी सुनकर ।
ली प्रत्यंचा खींच, वाण संधाने चुनकर ।
अन्धकार छा गया भयावह बादल गर्जे ।
महासर्प फुंकार उठे माया के सर्जे ।
क्षण-क्षण वज्राघात, क्षत शिखर, पर्वत टूटे ।
हुए गहन भू-भ्रंश, उत्स विष-जल के फूटे ।
भीषण हाहाकर मच गया, रुद्ध दिशाएँ ।
सूर्य बुझा-सा लगा, साथ आ गयीं निशाएँ ।
वहिर्जगत में नहीं रहा आलोक कहीं पर ।
पर अविचल थे बुद्ध पुनः ध्यानस्थ वहीं पर ।
उनकी मुख आभा पाकर नवदीप्ति खिल रही ।

प्रतिक्षण जैसे उनको अन्तज्योति मिल रही ।
अपनी सारी शक्ति लगाकर मार अवश था ।
कुछ कर पाया नहीं, बुद्ध का चित्त स्ववश था ।
धीरे-धीरे अन्धकार छँट गया, सूर्य-आभा फिर फैली ।
परा-शक्ति से हुई निष्कलुष, पुरा-प्रकृति की काया मैली ।
कृष्ण-शुक्ल दो पक्ष असित-सित ज्यों तिल-अक्षत ।
करते क्रम-अनुसरण, संचरण गति अव्याहत ।
जीवन का भी यही अनुक्रम काल-प्रवाही ।
दुख-सुख, सुख-दुख दोनों आते-जाते राही ।
जहाँ कहीं सुख, प्रकट वहीं दुख होता निश्चय ।
सुख-दुख में निर्लिप्त, यही मानव-मन की जय ।
पर यह मन की दशा बिना अभ्यास असम्भव ।
जन्मान्तर संस्कार उसे कर देते सम्भव ।
मुझे उन्हीं संस्कारों का बल प्रेरित करता !
नहीं मार के शर-प्रहार से मैं अब डरता ।
कभी किया मैंने भी अनुभव उसके शर को ।
इतने वर्षों नहीं त्याग पाया मैं घर को ।
किन्तु निरन्तर मेरा मन उद्विग्न रहा था ।
भोगों के अनुभव के भीतर त्याग बहा था !

होकर बन्धन-मुक्त त्वरित जाने को कानन ।
बार-बार बन-मृग सा अकुलता मेरा मन ।
आकर्षण मुझको भी था सुत का, नारी का ।
पर उससे भी अधिक-बोध था लाचारी का ।
जन्म-मृत्यु पर, जरा-व्याधि पर नहीं नियन्त्रण ।
कर पाता जब तक मानव, तब तक जीवन व्रण ।
बिना किए उपचार निरर्थक लगती काया ।
सुख का अनुभव श्वेत, दुःख की काली छाया ।
इस चितकबरेपन को शोभन कैसे मानूँ ?
परवशता हो जहाँ, स्ववशता कैसे जानूँ ?
आत्मबोध ही मुझे इष्ट है ।
सांसारिकता सब अनिष्ट है ।

पृष्ठ संख्या : 51

मुझे खोजना है अपना पथ।
बिना इति, किए कहाँ नया अथ ।
सब दुःखों से त्राण चाहिए ।
जन-जन का कल्याण चाहिए ।

•

तू मुझको मनोज क्यों कहता
तेरा मन मेरी रचना है ।
मै हूँ मार कराल व्याल-सा
सहज नहीं मुझसे बचना है ।
ध्यान लगाकर देख
सत्य क्या है, सपना क्या ?
मनः जात संकल्प
सृष्टि; इसमें अपना क्या ?
तेरे मन का नहीं
विश्व-मानस का फल हूँ ।
ब्रह्म तेज हूँ,
नहीं कभी होता निष्फल हूँ ।

'यह तेरी दर्पोक्ति'
बुद्ध ने कहा मार से ।
उत्तर उसने दिया
और घातक प्रहार से ।

"दर्प-उक्ति मेरी क्या
मैं कन्दर्प स्वयं हूँ ।

महाकाल का कण्ठहार
विष-सर्प स्वयं हूँ ।"

"महाकाल के
भाल-नेत्र से क्षार हुआ तू,
तब मनोज था,
अब मन-सृष्टा भार हुआ तू ?"

सुनते ही डँस लिया
मारने व्याल-वाण से ।
कठिन व्यथागत हुए
तथागत क्षुब्दप्राण से ।

"एक दंश से ही मेरे
तू लगा झूमने !
कहाँ गया ध्रुव ध्यान
धरा को लगा चूमने !
सुतदारा के भय से भागा
मैं तेरा सब ज्ञान जानता ।
आत्मा का निषेध करता है
तू ईश्वर को नहीं मानता |"

आत्मा-ईश्वर नहीं,
नहीं, मै तो हूँ जग में ।
और आज तो
अड़ा हुआ हूँ तेरे मग में ।

ध्यान लगाकर,
तू करता किसकी उपासना ?
सबका दुःख हो दूर,
यही क्या नहीं वासना ?

हर भावना सृष्टि है मेरी,
हर इच्छा मेरी दुहिता है ।
योग-अग्नि से जला रहा मन,
तेरा आसन दग्ध-चिता है ।

तेरे मन में ज्ञान-दर्प है,

मन क्या तेरे हाथ रहेगा ।
अस्थि-शेष तेरा यह तन भी
कब तक तेरे साथ रहेगा ।

पृष्ठ संख्या : 53

"तेरा तन तो भस्म हो चुका
अब मेरे तन का गाहक है ।
तू लोभी है, दर्प-हीन है,
क्यों विवाद करता नाहक है |

यह रति तेरी दुहिता है, या तेरी भार्या ।
यह कैसा सम्बन्ध आर्य, यह कैसी आर्या !
कंठ-हार था जिसका,
उसका ही द्रोही तू ।
शिवता का प्रतिरूप ।
अमंगलमय मोही तू ।
किया आज तक क्या तूने कल्याण किसी का ?
स्वयं चलाए वाण, सहा कब बाण किसी का ?
कायर ही अस्थिर, सक्षत-विक्षत होते हैं ।
वीर युद्ध में कहाँ स्वयं आहत होते हैं ।

तेरी भाषा द्वेषमयी है, तू हिंसक है ।
राग-रंगमय तेरा जग सीमित मन तक है ।
अहंकार में तू सबका दुख नहीं समझता ।
सबके सुख को तू अपना सुख नहीं समझता ।
दृढ़-विवेक से हीन, जड़-प्रकृति स्वार्थ-सिद्ध है ।
मरने का उपकरण मार है, महागिद्ध है ।
मार ! कहूँ क्या, मरे हुए को ताक रहा तू
करुणाहीन हृदय तेरा क्या अपने भीतर झाँक रहा तू ।

मैं जीवन का परम उपासक योग-युक्त हूँ ।
तन का, मन का, मोह नहीं मुझको, विमुक्त हूँ ।
तेरा त्रास नहीं मुझको, अब कुछ न कहूँगा |
यह अचला मेरी साक्षी है, अचल रहूँगा |"
इतना कहकर मौन हुए अमिताभ बुद्ध वे ।
निर्मलता की मूर्ति, तेजमय परमशुद्ध वे ।

पृष्ठ संख्या : 54

दिव्य रश्मियाँ उनके तन से लगीं निकलने ।
मार-सैन्य को दैन्य रूप दे, चलीं निगलने ।

स्वयं मार भय-भीत, शीत आभा के आगे ।
प्राण बचाकर उसके चर-अनुचर सब भागे ।
ब्रह्म-तेज वह हुआ पराजित, परा-बोध से ।
नया मार्ग मिल गया बुद्ध को, आत्म-शोध से ।
देव शक्तियाँ हुई प्रफुल्लित, इन्द्र मुदित थे ।
बुद्ध-अर्चना करने द्वादश सूर्य उदित थे ।

पृष्ठ संख्या : 55

•

बिम्बसार का कथन

यह विराग तो उचित नहीं है ।
इस वय में क्षत्रिय कुमार को,
राज्य-त्याग तो उचित नहीं है ।

उस गोपा का प्यार छोड़कर ।
नव कुमार सुकुमार छोड़कर ।
क्या पाने की अभिलाषा से ।
आये तुम संसार छोड़कर ।
गोपा का मधु-प्यार त्यागकर
नवकुमार सुकुमार त्यागकर ।
क्या पाने की अभिलाषा से ।
आये तुम संसार त्यागकर ।

जहाँ लता-तरु नव पुष्पित हों ।
वहाँ आग तो उचित नहीं है ।
यह विराग तो उचित नहीं है ।

सुख त्यागे स्वामित्व त्याग दे ।
पर क्या निज व्यक्तित्व त्याग दे ?
कैसे यह सम्भव है, कोई ।
सब अपना दायित्व त्याग दे ।
शुद्धोदन से सदाशयी को
यह अभाग तो उचित नहीं है ।
यह विराग तो उचित नहीं है ।

यह कोई गृह-कलह रही हो ।

कहो बात, जो नहीं कही हो ।
पृष्ठ संख्या : 56
मुझे पिता जैसा ही समझो,
मेरे हित तुम पुत्र वही हो ।
जिसे चाहिए चन्दन, उस पर—
भस्म-राग तो उचित नहीं है।
यह विराग तो उचित नहीं है।

•

मै करुणा का पात्र नहीं हूँ,
जिन्हें राज-मद वैभव बाँधे
जिन्हें मोह-माया मद नाँधे
वे जन करुणा के भाजन
उन जैसा मैं जन-मात्र नहीं हूँ
मैं करुणा का पात्र नहीं हूँ ।

भिक्षा-पात्र हाथ में मेरे ।
किंतु विवेक साथ में मेरे ।
भले जन्म से राज-पुत्र हूँ,
पर-हिंसा-मय क्षात्र नहीं हूँ ।
मैं करुणा का पात्र नहीं हूँ ।

सारे साधन सिद्ध किये हूँ ।
मन में दृढ़ संकल्प लिये हूँ ।
जितना बाहर से लगता हूँ ।
उतना कोमल-गात्र नहीं हूँ ।
मैं करुणा का पात्र नहीं हूँ ।

ज्ञान दिव्यता का प्रकाश है ।
मोहतिमिर है, महा-पाश है ।
यही बोध होता है मुझको
दिवस-रूप हूँ, रात्र नहीं हूँ ।
मैं करुणा का पात्र नहीं हूँ ।

बिम्बसार हैं आप यशस्वी ।
मैं त्यागी हूँ और तपस्वी ।
पृष्ठ संख्या : 57
नहीं चाहिए राज्य आपका,

मैं त्राता हूँ, त्रात नहीं हूँ |
मैं करुणा का पात्र नहीं हूँ ।

•

उत्तर सुनकर बिम्बसार नत-प्रणत हो गये ।
दीक्षा तो ली नहीं किन्तु
पाने को सद्गति, थे वे भी गत-सुगत हो गये ।

कितना दृढ़ इसका विराग है ?
कैसे इतना प्रीत-राग मन,
हुआ आज यों वीतराग है ?

कहाँ गये किंजल्क-केश वे ?
रत्नाभूषण राज-वेश वे ?
पंखुरियाँ झर गयीं शिशर में,
शेष रहा केवल पराग है ।
कितना दृढ़ इसका विराग है ।

दिव्य पीत-कौशेय वसन यह ।
योग-युक्त विश्वसन-श्वसन यह ।
पद्मासन संस्थित तेजोमय,
ढकी भस्म से शान्त आग है ।
कितना दृढ़ इसका विराग है

अर्ध निमीलित नेत्र ध्यानमय ।
शान्त अधर विज्ञान-ज्ञानमय ।
स्कंधोन्मुख बहुश्रुत श्रुतिपुट वे
भस्मशेष प्रज्वलित आग है
मूर्तिमान ज्यों स्वयं त्याग है ।
कितना दृढ़ इसका विराग है ।

मुझे लग रहा
तरुण-देह होकर भी

यह मुझसे वयस्क है ।
इसके आगे
सभी धातुएँ कटती जातीं
यह कितना दृढ़तर अयस्क है
जग-वंदित राजाधिराज मैं,

लो प्रणाम करता हूँ इसको ।
यह निष्काम हो चुका कब का,
फिर सकाम करता हूँ इसको ।
पृष्ठ संख्या : 59

•

तृष्णा और कृष्णा

तृष्णा

गहन आम्र-वन में
श्रमणों के साथ
कहीं अभिताभ जा रहे ।
चीवर पर आलोक-वृत्त बनते ।
छनते जब रश्मि-पुंज
विद्रुम-द्रुम-दल से ।
सहसा पाँच प्रधावित युवजन
उन्हें देखकर लगे पूछने—
'भन्ते ! इधर कहीं देखा क्या ।
एक सुन्दरी वार-वधू को
तुमने जाते ?

सूख रहे थे होंठ प्यास से,
किन्तु पसीने से तन गीले,
हाँफ रहे थे वे सब के सब
श्री-विहीन मुख पीले-पीले ।
करुणा-पूरित नयन बुद्ध के
लगीं देखने वे दस आँखें ।
उत्सुकता, आकुलता जैसे
खोल रही हों अपनी पाँखें।
कहा बुद्ध ने—
'हाँ देखा है मैंने उसको,
वह अतिशय लावण्यमयी है।'
वे सब व्यग्र, उग्र हो बोले—
पृष्ठ संख्या : 60
हमें बता दें किधर गयी है ?
एक प्रश्न था दस नेत्रों में,
उत्तर में दो नयन खुले थे ।

निरावेग उस गूढ़-गिरा पर,
उनके सब आवेग तुले थे ।
तृष्णा-रूप तुम्हारे ही भीतर है वह,
तुम नहीं जानते ?
वही पिपासाकुल करती है तुम्हें,
इसे क्यों नहीं मानते ?
पहले तो हो उठे,
अप्रत्याशित उत्तर से क्षुब्ध-क्रुद्ध वे—
विनत हुए, संस्कारशील, होकर प्रबुद्ध वे ।
मिले मार्ग में उन्हें तथागत,
हरा कल्याण त्राण हो जैसे
फिर सबके सब बाह्य रूप पर मुग्ध
तरुण वे मूर्छित पंच-प्राण हों जैसे ।

•

कृष्णा

आवुस गौतम
गये चारिका हेतु नगर में
देख भीड़ से रुद्ध द्वार
रुक गए डगर में
कुछ शिष्यों ने भक्ति-भाव से
मार्ग बताया
यहाँ एक कारुणिक दृश्य सामने उनके आया
छाती पीट-पीट, क्रन्दन करती थी माता ।
आँसू से भीगा मुख गलती काया
छीन लिया अवलम्ब बड़ा ही क्रूर विधाता ।
एक मात्र था पुत्र, दिवंगत हुआ अचानक ।
उस वृद्धा पर असह गाज-सी गिरी भयानक ।
शव धरती पर पड़ा, खड़े थे परिजन घेर ।

एक अचेतन को शक्ति चेतन बहुतेरे ।
देख प्रभामय दिव्य रूप गौतम का, वृद्धा—
'इसे जिला दें देव आप,' कह उठी सश्रद्धा !
शान्तमना शास्ता ने अपना पंचागुल कर ।
उसे दिखाकर कहा जिला दूँगा मैं सत्वर ।
यदि माँ ला दे मुझे पाँच राई के दाने ।
उस घर से, जिसमें पायी हो मृत्यु न आने ।

वृद्धा तत्क्षण उठी वेग से रिक्त पात्र ले ।
द्वार-द्वार भटकी याचक बन क्षीण गात्र ले
ऐसा घर न मिला जो केवल हर्ष भरा हो ।
कोई जीवित व्यक्ति न जिसमें कभी मरा हो ।
लौटी वृद्धा शिथिल गात, विजड़ित हताश मन ।
शान्त किया उसको गौतम ने देकर प्रवचन ।
कृष्णा ने पाकर प्रबोध देखा जीवन को ।
अपना है क्या ? कौन साथ ले गया स्व-तन को
परिर्वतन परिव्याप्त, बदलता जग क्षण-क्षण में
प्रणत हुई, शरणागति पाकर बुद्ध-चरण में ।
राई में पर्वत दिखलाया, उसकी जय हो ।
जिसने फिर जीना सिखलाया, उसकी जय हो |

•

नापित-प्रसंग

किसी नापित को सुगम ज्यों कर्तनी विद्या ।
सिद्ध है सिद्धार्थ को आवर्तनी विद्या ।
मोह के बंधन उसी से काटते हैं वे ।
मालियों-सा डालियों को छाँटते हैं वे ।
सामने आये विरोधी, मन बदल जाता ।
हो महा विक्षुब्ध, क्रोधी, मन बदल जाता ।
इस चमत्कृति से चकित हैं लोक के लोचन ।
इसी पर आक्षेप होते मुक्त आलोचन ।

बुद्ध का व्यक्तित्व ही ऐसा असाधारण ।
किये अपने पर सभी के दुःख को धारण ।
महा हिंसक भी उन्हें त्रासद नहीं लगता ।
शेष हो उनमें कहीं नृपमद, नहीं लगता ।
दीर्घकाया, सौम्य मुख-मुद्रा, सधा पदचार ।
सत्य सम्भाषण, मृदुल वाणी, सहज व्यवहार ।
दर्प की छाया नहीं, कंदर्प भी श्रीहीन ।
भार-कन्याएँ पराजित हो, पड़ी हैं दीन ।
ध्यान केन्द्रित साधना, निर्वाण का आधार ।
मनुज होकर देवता के तुल्य सब आचार ।

धर्म प्रेरक संघ-शास्ता, पीत गौरिक वेश ।
गया देश-विदेश मानव-मुक्ति का संदेश ।

बौद्ध-धर्म-प्रसार था, थामे नहीं थमता ।
मिली पहली बार मानव को वहीं समता ।

पृष्ठ संख्या : 63

जन्मजात समानता का कर दिया उद्घोष ।
मिला जन-जन के हृदय को आन्तरिक परितोष ।
पतित पावनता, महाकरुणा परम कल्याण ।
दण्ड से पिसती प्रजा को मिला अद्भुत त्राण ।
छोड़कर वैभव अपार, विलासिता उद्दाम ।
स्वयं शासक भूमि पर चलने लगा निष्काम ।
शान्ति में ही क्रान्ति का चेहरा झलक आया ।
हृदय जैसे आँख के बाहर छलक आया ।
युद्ध-हिंसा का हुआ निरसन, मिटा संत्रास ।
किसी का स्वामी न था कोई किसी का दास ।

•

शाक्य राज्य में प्रजातंत्र था ।
प्रजा-शक्ति ही महामन्त्र था ।
पार रोहिणी के कौलिय थे ।
शाक्यों के सम्बन्धी प्रिय थे ।
कौल राज्य की दो कन्याएँ ।
थी शुद्धोदन की मायाएँ ।
यही रीति थी, पहली सन्तति ।
न हो पितृ गृह में, शुभ ग्रह-गति ।
बनी रहे दोनों राज्यों पर ।
बना रहे सद्भाव परस्पर ।

पुत्र हुआ अथवा विराग जन्मा गौतम के मन में ।
यशोधरा माँ बनी इधर, वे गये उधर कानन में ।
कैसी विडम्बना थी, जितना सुख उतना ही दुख था ।
विमुख हुआ पति उधर, इधर समरूप पुत्र सम्मुख था ।
अर्धरात्रि में, मनोराज्य के लिए राज्य भी छोड़ा ।
ओ सिद्धार्थ ! कहो कैसे इतना दृढ़ बन्धन तोड़ा ?
सभी देखते, जरा-मृत्यु को तुमने कैसे देखा ?
कितनी गहरी खिंची हृदय पर, उस कुरोग की रेखा ?

पृष्ठ संख्या : 64

सारी सृष्टि दुःखमय, ऐसा कैसे तुमने जाना ?

सृष्टा के विधान को इतना एकांगी क्यों माना ?
कौन भाव था, कैसे उपजा, क्या कारण थे उसके ?
नियति वही थी या निमित्त ही चर-चारण थे उसके ?
नहीं आज तक उत्तर इन जिज्ञासाओं का मिलता ।
मानव मन का कमल कहाँ, किस विधि, कब, खिलता !
हर कोई तुममे अपनी विरक्ति की छाया पाता ।
हर प्राणी कारुण्य भाव से ममता-माया पाता ।
फिर भी कुछ ऐसा जिससे दूरी भासित होती है ।
कहाँ सूर्य की तेज-राशि पूरी भासित होती है ?
जो अपने को बुद्ध कह सके, किसका साहस होगा ?
किसने इतनी गहराई से अविकल सुख-दुख भोगा ?
मुझे चाहिए मात्र तुम्हारे वरद हस्त की छाया ।
कुछ तो शीतलता पाये जलती त्रिताप से काया !
पाकर तुमसे गूढ़ प्रेरणा हुई अहिंसक भाषा ।
मनुष्यता को दी तुमने नितान्त नूतन परिभाषा ।
देश-देश में युग-युग से तुमने कितना यश पाया ।
महासिंधु में मेरा श्रद्धा-बिंदु सहर्ष समाया ।

मेरा चित्त अशान्त हो उठा

ऋतु-प्रासाद अलग थे मेरे,
हर ऋतु की कलिका खिलती थी ।
साधारण जन धूप झेलते,
मुझे छत्र-छाया मिलती थी !
प्राचीरों में बँधकर रहना
मुझको असह नितान्त हो उठा ।
मेरा चित्त अशान्त हो उठा ।

और गृहों के स्वामी दुखमय,
मेरे गृह के दास सुखी थे ।

मैं विलास में नहीं निमज्जित
हो पाया, तो लोग दुखी थे |
धीरे-धीरे मुझे जगत का—
कोलाहल, एकान्त हो उठा ।
मेरा चित्त अशान्त हो उठा ।

राज्य राज्य से टकराता था,

विवश बीच में पिसती जनता ।
धूर्वों की माया नगरी से,
जैसे निष्कासित सज्जनता ।
सेनाओं के संचालन से,
मन ही पादाक्रान्त हो उठा ।
मेरा चित्त अशान्त हो उठा ।

मेरे तन पर वस्त्र रेशमी,
औरों के तन रहें उघारे ।
समासीन राजन्य वर्ग हो,
फिरें और सब मारे-मारे
यह मुझको स्वीकार नहीं था,
मेरा जीवन क्लान्त हो उठा।
मेरा चित्त अशान्त हो उठा।

मेरे सन्मुख अड़े हुए थे,
जरा-मृत्यु-भय, रोग भयानक—
जाने कैसे अर्ध रात्रि में
नगर द्वार खुल गए अचानक ।
छंदक-कंथक-पंथक मेरे,
मुझको सुलभ वनान्त हो उठा ।
मेरा चित्त अशान्त हो उठा ।

•

गृद्धकूट

गृद्धकूट पर बुद्ध रह रहे ।
बादल से विचार घिर आते ।
झरनों से उपदेश बह रहे,
लो देखो उस ओर
महामन्त्री वे आये ।
कुछ सन्देश अजातशत्रु का ।
सँग में लाये ।
सुनों ध्यान से वे नतशिर का बात कह रहे ।
गृद्धकूट पर बुद्ध रह रहे ।

देव ! वज्जियों से संघर्ष समक्ष आ गया ।

उनका दर्प असीम घोर आतंक छा गया ।
प्रजा त्रस्त है, राज्य सैन्य आसन्न खड़ी है ।
होना है अभियान, रात्रि में पुण्य घड़ी है ।
महाराज को जय देखा आशीष आपका
उन्नत होगा और ज्ञान उष्णीय आपका ।
सुनो आर्य ! हर दिशा कीर्ति की जिसने धोई;
शत्रु अजातशत्रु का कैसा सम्भव कोई ?
पर यदि वाजि-समूह वज्र के तुल्य सुदृढ़ है ।
धैर्य शौर्य से संरक्षित यदि उनका गढ़ है ।
अपनी धरती अगर उन्हें प्रिय है प्राणों से ।
तो वे नहीं पराजित होंगे शत वाणों से ।
यदि उनमें गुरुजन के प्रति सम्मान बना है ।
यदि उनका व्यवहार पूज्य से स्नेह सना है ।
यदि अपने पवित्र तीर्थों पर उन्हें गर्व है ।
यदि वे हैं संगठित, उन्हें हर युद्ध पर्व है ।

तो उनकी ही जय होगी, यह बुद्ध वचन है ।
आक्रामक जो होगा उसकी नियति पतन है ।
लौट गये सन्देश सहित सन्तुष्ट मन्त्रिवर ।
किन्तु अज्ञातशत्रु से कह न सके सब सत्वर ।
शंका थी मन में, कहने से रोष हुआ तो ?
बुद्ध वचन से यदि न उन्हें संतोष हुआ तो ?

इधर बुद्ध वे,
गृद्धकूट से,
शिष्य-मंडली सहित
चल दिये ।
मिले मार्ग में,
दुर्ग रच रहे—
महाराज से,
भिक्षु-दल लिये ।

•

अंगुलिमाल

कपटी मनुष्यों की तरह
कुछ शब्द

ध्वनि में जितने मधुर
जितने आकर्षक होते हैं—
अर्थ में, उनके भीतर
उतनी ही भयानकता !
छिपी रहती है !
ऐसा ही एक शब्द है—अंगुलिमाल !
जैसे अट्टहास करता हुआ
साक्षात महाकाल !

कोसल प्रदेश में महाजाल से
योजनों फैले हुए
जालिन वन में भटके ।
कहीं किसी राह में अटके ।।
पथिकों को लूटता-पाटता
यही नहीं उनके हाथों की
अँगुलियाँ काटता
बहते रक्त को जीभ से चाटता
कटी अँगलियों को कलियों-सा
ताँत की माला में पिरोता
कभी कमर में बाँधता, कभी गले में ढोता ।

कैसा वह गुरु और कैसी गुरु-दक्षिणा ?
जिसका शिष्य करे सदा
हिंसा की प्रदक्षिणा !

तक्ष-शिला ने कैसा तक्षण-कर्म सिखाया
अंग-भंग कर निरपराध पथिकों का
किसने क्या सुख पाया ?
कहीं विषम मानसिक विकृति
क्या कभी सफल कृति बन पाती है
अन्तर्मन की छाया मुख पर छा जाती है

उसी मार्ग से सुगत जा रहे
जिस पर अंगुलिमाल खड़ा था
शान्त नदी की धारा रोके
शिलाखंड की तरह अड़ा था ।
किन्तु तथागत रुके न रोके !
यह कैसा निर्भीक पुरुष है

किंचत इसको नहीं मृत्युभय,
इसके मुख पर तेज अपरिमित
लगता है होगी इसकी जय ।
झपटा उनकी ओर खड्ग ले
फिर भी वे कुछ हुए न विचलित ।
मनुज नहीं यह दिव्य शक्ति है,
ठिठक गया वह स्वयं सशंकित ।
लो यह मेरा हाथ,
काटा दो अंगुलिमाल अंगुलियाँ सारी ।।
फिर सोचा, संभव है कितना अबोध
यह साधु, सत्य मुझे जानता नहीं है
इसीलिए इतना निर्भय है
मुझको पहचानता नहीं है ।
पर जब शब्द सुने गौतम के चकित रह गया ।
रोक नहीं पाया प्रवाह को, स्वयं बह गया ।
लो यह मेरा हाथ थामकर
काटो अंगुलिमाल अंगुलियाँ |
पूरी कर लो अपनी माला
और गूँथ लो नूतन कलियाँ ।

त्वरा नहीं है मुझे
तुम्हारा हित ही करने आया हूँ मैं ।
यदि सुमेरु चाहिए तुम्हें तो
लाओ अपना सिर दे दूँ मैं ।
अंगुलिमाल झुक गया
चरणों पर सिर रखकर ।
लगा सिसकने अपराधी-सा
विह्वल कातर,
मेरा असली नाम अहिंसक था
मैं क्या से क्या बन बैठा ।
हिंसा के कदर्म में धँसकर
डूब गया, सिर तक सन बैठा ।
अब यह सिर अर्पित करता हूँ
यही मेरु होगा माला का ।
लगा काटने शीश खड्ग से
स्वयं हाथ अपनी काया का ।
थाम लिया गौतम ने उसका हाथ
हाथ से आगे बढ़कर ।

गिरा भूमि पर खड्ग
शिथिल होकर शरीर भी,
कील दिया हो क्रुद्ध सर्प को
किसी सिद्ध गारुड़ि ने सहसा,
दिव्य मन्त्र-सा जैसे पढ़कर ।

पर जब वह चैतन्य हुआ तो लगा सोचने ।
राज-रोष अंकुश-सा मन में लगा कोंचने ।
कहा बुद्ध से देव खड्ग कर रहा समर्पित ।
पर न आप कर दें इसको राजा को अर्पित ।

समझ गये संकेत बुद्ध आश्वासन देकर ।
पास बिठाया उसे स्नेह से आसन देकर ।
पृष्ठ संख्या : 71
हिंसा तत्पर दस्यु, भिक्षु बन गया अन्त में ।
जल में जल ज्यों मिले, संत हो मिला संत में ।

अंगुलिमाल बुद्ध का अनुगत ?
सुन प्रसेनजित हुए प्रभाहत !
नहीं हुआ विश्वास श्रवण से,
गये तथागत के समक्ष वे ।
भिक्षु रूप में उसे देखकर
प्रणत हुए चरणों में नृपवर ।
पृष्ठ संख्या : 72

अवसान

नहीं उपेक्षित किया बुद्ध ने ।
कभी दरिद्रों का आमन्त्रण ।
लोहकार चेदी के घर भी ।
गये, निभाना था उसका प्रण ।
टूटी-फूटी जीर्ण झोपड़ी,
लौह-कर्म के स्वल्प उपकरण ।
मरी खाल से बनी धौंकनी,
धधका देती भट्ठी तत्क्षण ।
लगा बुद्ध को जैसे उनका,
दुख-दर्शन साकार हो उठा ।
तृष्णा से जलते जीवन में,

सभी सार निस्सार हो उठा ।
तो भी कुछ रचना संभव थी,
जिससे होता जन-जन का हित ।
जलती-गलती शुद्ध धातु से,
हुए शक्ति के साधन निर्मित ।
जीवन भर शिक्षा दी सबने
शान्ति न जग के पाण पा सके ।
लगे सोचने बुद्ध युद्ध से,
कैसे मानव त्राण पा सके ।
नाम आत्मरक्षा का देकर,
हिंसा के उपकरण बन रहे ।
शाण चढ़ाये फलक चमकते,
वाण चढ़ाये धनुष तन रहे ।

पृष्ठ संख्या : 73

द्रोण-पात्र में तभी अशन बहु,
प्रणत-पाणि चेदी ले आया ।
नहीं तिरस्कृत किया उन्होंने,
स्नेह भाव से सब कुछ पाया ।
उसमें शूकर मार्दव भी था,
वह आसन्न विकार हो गया ।
जरा जीर्ण थी देह, रुग्ण भी,
मृत्यु-हेतु अतिसार हो गया ।
सभी भिक्षु विक्षुब्ध हो उठे,
महासिंधु में ज्वार आ गया ।
लोहकार पर लगे बरसने,
आँखों में अंगार छा गया ।
फिर भी बुद्ध नितान्त शान्त थें,
मन चट्टान सदृश अविकल था ।
चेदी का अपराध नहीं कुछ,
मेरे ही कर्मों का फल था ।
लिये अहिंसा का व्रत था मैं
तब मैने क्यों मांस खा लिया ।
अकरणीय जो, किया स्वयं ही
उसका दुष्परिणाम पा लिया ।
सुनों आवुसो, सुनो भिक्षुओं !
चेदि का कुछ दोष नहीं है ।
जिसका श्रद्धा-भाव शुद्ध हो,
उस पर संगत रोष नहीं है ।

यह आवेश तुम्हारा, मेरे प्रति ममता का विकृत रूप है ।
दृष्टिवान् होकर क्यों होते पतित, क्रोध तो अंधकूप है ।

इसी तरह क्या धर्मसंघ का तुम सर्वत्र प्रचार करोगे !
लोहकार का प्राण-हरण का क्या मेरा उपचार करोगे !
अभिमन्त्रित हो बुद्ध वचन से, महासर्प-सा ज्वार रुक गया।
चारो ओर घेर कर उनको, प्रतिहत भिक्षु-समूह झक गया |

•

निर्वाण-दृश्य

उठ, अचानक बुद्ध गिर गये ।
जरा-जीर्ण तन का बल टूटा,
श्वास-श्वास का साहस छूटा,
यश से अविनश्वर थे फिर भी—
नश्वरता के बीच घिर गये

कोसों तक फैल विशाल वन ।
पुष्पाच्छादित दिव्य शाल वन ।
वह शयान-मुद्रा थी अविचल,
अन्तिम क्षण में नयन फिर गये ।
कुशीनगर की पावन धरती,
अन्तर्तम को प्रेरित करती ।
चरण-चिह्न छूकर दुख जल-निधि,
जाने कितने लोग तिर गये ।
स्वर्ण सदृश तन क्षार हो गया
अरे ! जयी क्या मार हो गया ।
नहीं, नहीं, यह देह-धर्म है,
गति पाकर सब तत्व थिर गये।
उठे, अचानक बुद्ध गिर गये |

शासकों का सैन्य बल हुंकार करता ।
क्रुद्ध आहत सर्प ज्यों फुंकार करता ।
अस्थियों का हो विभाजन !
अस्थियों का हो विभाजन !!

स्तूप रच पूजें प्रजाजन;
अस्थियों का हो विभाजन !

पृष्ठ संख्या : 75

यह अष्टांग मार्ग की परिणति,
धर्म-संघ की बनी नियति गति
आठ भाग कर दिये गये भस्मावशेष के ।
शेष रह गये चिह्न मात्र ही उस अशेष के ।
चरणचिह्न हो
धर्म चक्र हो,
बोधिवृक्ष हो ।
नव प्रतीक के
ज्ञात रूप में ,
ध्यान तथागत का धरने को
कुछ तो आँखों के समक्ष हो ।

पृष्ठ संख्या : 76

•

अन्त

संतप्तों का ताप बनाता रहा तपस्वी ।
यशोधरा को त्याग, बुद्ध बन गये यशस्वी ।
जिसको त्यागा वही छा गयी उनकी छवि पर ।
छा जाती ज्यों लोक-समाहित कविता कवि पर ।
त्याग विरोधी नहीं, ग्रहण का सही समर्थक ।
बिना त्याग से जुड़े ग्रहण की वृत्ति निरर्थक ।

हृदय-जलाशय, आकाशी छायाएँ गहता ।
हर प्यासे को सुलभ किन्तु उसका जल रहता ।
अपने दल, अपने फल, तरु क्या स्वयं भोगते !
जो भी आता पास उसे सब कुछ अरोगते ।
अपनी छाया किये, सभी के सर पर रहते ।
पत्थर भी मारे कोई, अपशब्द न कहते ।
जोड़ रहा जो स्वार्थ-वृत्ति में पैसा-पैसा ।
उसका सब जीवन—घोंघे के कीड़े जैसा।
हैं जन को अधिकार स्वत्व ऐसों का छीने ।
जल को समतल किया विषमतामय धरती ने ।

समता का साम्राज्य तथागत का करुणा स्वर ।
समता का आलोक अनागत-आगत भास्वर ।
शान्ति का क्रान्तिमय हुई, क्रान्ति में शान्ति-सदाशा ।
जन-जन का कल्याण, यही भारत की भाषा ।

धन-केन्द्रित भौतिक दर्शन से
नाप रहे जो मानव-मन को |
पृष्ठ संख्या : 77
नहीं समझते वे स्व-भाव को,
नहीं जानते वे जीवन को ।

ज्ञात अर्थ का अर्थ जिसे हो वह मानव है ।
धन-वैभव ही इष्ट जिसे, वह तो दानव है ।

धन साधन की
पवित्रता का
करे अनुसरण ।
अर्जित हो अपने श्रम से
समाज स्वीकृति से
व्यर्थ किसी का
न हो अपहरण ।
पृष्ठ संख्या : 78

•

त्रिरत्न

पराधीनता पाप,
दुःख का बीज वही है ।
स्वाधीनता वरेण्य
उसी का मार्ग सही है ।
व्यक्ति मुक्ति-पथ पर चलकर ही
जन-समाज को मुक्त करेगा ।
स्वयं बद्ध होकर औरों के बन्धन वह किस भाँति हरेगा ?
नहीं उच्चकुल-जन्म यशस्वी होने का आधार सुनिश्चित ।
हेय नहीं कोई भी मानव,
कोई प्राणी त्याज्य नहीं है ।
कर्म-भूमि सबकी है, इस पर

किसी एक का राज्य नहीं है ।
चित्तवृत्तियों को वश करना
मानव का पुरुषार्थ पराक्रम ।
उनसे वशीभूत हो जाना,
पौरुष का अपमान, दिशाभ्रम ।
कर्मकाण्ड, तीर्थाटन, हिंसा-यज्ञ विवर्जित ।
कृच्छ साधनाएँ मानी गौतम ने गर्हित ।
भेद-भाव मिट गया तन्तु समता ने ताने ।
त्याग अंध-विश्वास, श्वास ली मनुष्यता ने ।

गौतम का नैरात्म्यवाद पर्याप्त नहीं भोगोन्मुखता का ।
भौमिकवादी सीमाओं से ऊपर उसकी पुण्य-पताका ।
मानव-गौरव की उसमें मान्यता अपरिमित ।
चेतन का वर्चस्व समर्पित बहुजन के हित ।

बहुजन-सुख का भाव, विश्वव्यापी करुणामय ।
धन तक सीमित नहीं, दृष्टि निष्काम निरामय ।
धन का, मन का, जीवन का दारिद्र्य-निवारण !
मानवता का बना लक्ष्य, निर्वाण सकारण !
अहंकार का शमन, दमन दुष्प्रवृत्तियों का ।
मध्य मार्ग-अनुसरण, संचरण निवृत्तियों का ।

नहीं सैन्यबल से आरोपित था अनुशासन ।
किया बुद्ध ने श्रद्धामय हृदयों पर शासन ।
सदाचरण ही शक्ति बना उनकी वाणी में
एक मन्त्र-सा व्याप्त हुआ जन-कल्याणी में ।
धन वैभव तो राज-शक्ति के लिए सुलभ था ।
पर त्रिरत्न प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ था ।
यही बुद्ध उपदेश आर्य-सत्यों की निष्ठा ।
यही मनुज का श्रेय, यही सन्मार्ग प्रतिष्ठा ।
यद्यपि साधन-क्रम शास्त्रों ने बहुत कहा है ।
मनः शुद्धि का साक्षी मानव स्वयं रहा है ।
धरती गूँजी महानाद से अम्बर गूँजा ।
देश-देश में यही स्वाभिमानी स्वर गूँजा ।

बुद्धं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि

मैं न रहूँगा
किन्तु रहेगी मेरी वाणी ।
मुझसे भी बढ़कर
जन-मन-मोहक कल्याणी ।

मेरे अंग शिथिल होने पर
उसका अंगीकार करें सब ।
टिकें अस्थियों पर आस्थाएँ
धर्म-भाव स्वीकार करें सब ।

जब तक मेरे शब्द रहेंगे,
अर्थ रूप मैं स्वयं रहूँगा ।
नूतन अर्थों के माध्यम से,
सदा नया सन्देश कहूँगा ।

कौन सृष्टिकर्ता है, किसकी महत् कृपा है ?
मानव-मन में बोधिवृक्ष का बीज छिपा है ।
पाँवों के नीचे पृथ्वी है, अन्तरिक्ष है ।
हर चेतन प्राणी कायामय बोधिवृक्ष है ।
संपुजित लघु कोषों में विकास का द्रव है ।
कण-कण वर्धित, क्षण-क्षण नव है ?

हर प्राणी में बने प्रेरणा
स्वतः स्फूर्त उसकी गति भास्वर ।
अखिल ज्ञान-विज्ञान, साधना,
सभी उसी पथ के हैं पत्थर ।

प्रकृति-नियन्त्रित होकर भी है,
मनुज नियामक निजी नियति का ।
उत्तरदायी अपने कर्मों का,
संवाहक अपनी गति का ।

स्वयं-प्रकाशित मणि-सा उज्जवल,
शान्त जलाशय-सा शुचि, निर्मल।
उसका अन्तःकरण प्रभामय,
हर निगूढ़ता करता बिम्बित ।
अपने को जानना कठिन, पर नहीं असम्भव ।

मोह-नाश ही उसका साधन, ज्ञान-दीप्ति नव ।
पृष्ठ संख्या : 81

•

बुद्ध-स्तवन

प्रतिमित गौतम रूपबद्धता ।
जालपाणिपादावनद्धता ।।
बाहु प्रलम्ब, चक्रवर्तन-क्रम ।
स्वर्णकान्त छवि, सप्तोत्सद श्रम ।।
संवृत स्कंध, जंघ मृग-उपमित ।
नीलोत्पल वृष-पक्ष्म नेत्र सित ।।
शुद्ध प्रभा-मंडल संदर्शक ।
कम्बु-ग्रीव निर्मल, आकर्षक ।।
ऊर्णनाभमय वक्त्र मनोरम ।
आत्मभाव दृढ़ नारायण सम ||
शीर्षभाग उष्णीष-केशमय ।
अग्रसत्वशाली, सुदेशमय ।।
अति अचिन्त्य वह रसरसाग्रता ।
फिर भी करुणा-सुवित व्यग्रता ।।
जन-प्रिय, मन जन-प्रियता-संकुल ।
परम शान्त, पर दुख से व्याकुल ।।
पद्मपाणि अवलोकितेश्वर ।
प्रज्ञापारमिता युत भास्वर ।।
संघरत्न, आलिंगित यव-युम ।
एक मात्र मानुषी बुद्ध तुम ।।
पद्मपाणि से वज्रपाणि तक ।
तुम्हीं व्याप्त हो उन्नत मस्तक ।।
विश्वपाणि मैत्रेय रूप धर ।
बोधिसत्व समुदित हो सत्वर ।।
चक्र, चरण, उष्णीष रूप में ।
बोधिवृक्ष पूजित स्वरूप में ।।
पृष्ठ संख्या : 82

•